रथयात्रा
विद्यानिवास मिश्र

रथ और रथ का पहिया हमारी संस्कृति के बड़े महत्वपूर्ण बिम्ब हैं, अब तो जाने केसे-कैसे रथ चलने लगे, कैसी-कैसी रथयात्राएँ होने लगीं, पर हमारी रथयात्रा पर सवार होने की योग्यता तो राम, सीता, कृष्ण और बुद्ध के अलावा किसी में है नहीं।

हम तो नित्य रथयात्रा करते हैं, यह शरीर ही रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है। इन्द्रियगण घोड़े हैं, मन लगाम है, इन सबको एक सामंजस्य में स्थापित करने का सकल्प बार-बार होता रहता है और असहज भोग से सहज साहचर्य की ओर, सहज आत्मीयता की ओर रथ मोड़ने का संकल्प उठता रहता है, सही दिशा में रथ मोड़ने का संकल्प होता रहता है, कुछ इन्द्रियों की चपलता से, मन की दुर्दम्यता से और बुद्धि के प्रमाद से शरीर अवश हो जाता है, रथी भी ऊँघने लगता है और रथ कीचड़ में फँस जाता है।

भगवान जगन्नाथ की रथयात्रा में रथ कभी नहीं जुता, श्रीराम की रथयात्रा में जाने रहा, न रहा, कभी इतना भाग्य रहा कि ब्रज में श्रीकृष्ण को विलसते देखा हो, ऐसा संभव नहीं दिखता। भगवान बुद्ध की रथयात्रा तो उनके परिजनों तक ने नहीं देखी। सीता का विलाप जरूर कानों में गूँजता रहता है। सीता का वह वाक्य जँतसार (चक्की) के गीतों से ध्वनित होता हुआ सुनायी पड़ता है—जिसने मुझे गर्भिणी अवस्था में घर से निकाला, उस पुरुष का मैं मुँह भी नहीं देखूँगी। यह वाक्य कहते-कहते वे धरती से आयीं धरती में समा गयीं। सबसे अधिक सीता के कारण ही मन पर रथयात्रा की अमिट छाप पड़ी हुई है, शायद मेरे जैसे अटपटी राह के पन्थी लेखक की यही रथयात्रा है

रथयात्रा

ISBN 81-7150-052-8

प्रकाशक
इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
के-71, कृष्णनगर, दिल्ली-110051

प्रथम संस्करण
2002

आवरण
मनमोहन रूस्तगी

अक्षर संयोजक
संजय लेजर प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

मुद्रक
आर. के. आफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

मूल्य : 175.00

RATH YATRA *by* **Vidyanivas Mishra**

अपने बहुश्रुत प्रिय पाठक श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी
को सस्नेह

भूमिका

रथयात्रा मेरे पिछले कुछ वर्षों के पुस्तक रूप में अनछपे मुख्यतः वैचारिक निबंधों का संग्रह है। थोड़े-से निबंध उनमें व्यक्ति-व्यंजक भी हैं। पर उनके वैचारिक स्वर पूरे निबंध-संग्रह की एकान्विति में सहायक हैं। जैसा कि इस निबंध-संग्रह के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि रथयात्रा का बिंब हमारी संस्कृति की गतिशीलता का बिंब है। तीज-त्योहार, साधु-संत, देव-ऋषि, महापुरुष, तीर्थ-स्थल, रीति-नीति—इन सबको समाविष्ट करके ही देश बनता है, देश कोई भौगोलिक सीमा मात्र नहीं होता है, वह एक सचेत और तरंगायमान भाव की प्रक्रिया होता है। इसी मूलभाव को सामने रखकर इस संग्रह में संकलित लेख समय-समय पर लिखे गए हैं, जिनमें कुछएक तो 'साहित्य-अमृत' के संपादकीय के रूप में लिखे गए हैं और कुछएक पत्रों के उत्तर के रूप में और कुछएक आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले व्याख्यान हैं। कुछ विचारों की पुनरुक्ति इनमें मिल सकती है, वह जान-बूझकर है, पुनरुक्ति गेय पद की टेक की तरह है, बार-बार बल देने के लिए है।

इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन के श्री अशोक शर्मा ने इसे छापने का अनुरोध किया और बहुत कम समय में इसे प्रकाशित किया उन्हें मैं साधुवाद देता हूँ। मैं प्रकाश उदय को आशीर्वाद देता हूँ कि उन्होंने मेरी पत्रावलियों में से ये निबंध ढूँढ़ निकाले और इन्हें क्रम से लगा दिया, उन्होंने ही ध्यान से इनका प्रूफ भी देखा। उन्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ। इन निबंधों को ढूँढ़ने में मेरी सहायता श्री सुदूधन पांडेय ने की है, उन्हें आशीर्वाद देता हूँ।

विद्यानिवास मिश्र

अनुक्रम

अनुक्रम

अनुक्रम

रथयात्रा

भारतीय संस्कृति में शिव का स्वरूप

मुझसे कहा गया कि शिव के स्वरूप पर बोलिए। मुझे याद आया कि शिव की अर्धांगिनी पार्वती ने जब कहा—

अकिंचनः सन् प्रभवः स संपदाम्
त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते
न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।।

खुद इतने निरंग और सबको सब सम्पत्ति लुटाने वाले, त्रिभुवन के मालिक, पर मसान में ही अड्डा जमाने वाले, भयंकर होते हुए भी शिवशंकर कहलाने वाले का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसे कोई नहीं जानता—तब मैं कौन 'बापुरा रंक' होता हूँ कि इस स्वरूप के बारे में कुछ कहने का दम भरूँ। बचपन में मुझे पार्थिव शिव का नित्य पूजन करने वाले अपने दादा की पूजा निकट से देखने का अवसर मिला है। दादा की झोली में बिमौटी से लायी हुई या गंगा की मिट्टी का महीन चूरा महीन चलनी से छानकर रखा रहता था। वे थोड़ा-सा लेते, थाली में रखते, धीरे-धीरे शिवमहिम्नस्तोत्र पढ़ते-पढ़ते जल के छींटे देते, पूजा की सामग्री सजाकर रखते और तब हाथ से सानकर बायें हाथ पर एक पिण्ड लेकर शिव रचते, उससे छोटा पिण्ड लेकर पार्वती रचते, एक पिण्ड से गणेश रचते और इन तीनों के चारों ओर ग्यारह छोटे-छोटे रुद्रों का घेरा बनाते। एक नन्दी रचते, सबके ऊपर अक्षत का एक-एक दाना रखते जाते, महिम्नस्तोत्र-पाठ चलता रहता। मैं चार-पाँच वर्ष का बालक एकटक देखता रहता, पूजा के बीच तो पूछ नहीं सकता था, पूजा के बाद पूछकर सबकी पहचान मैंने कर ली थी। यह उभरा नुकीला होला जाता खंभ शरीर का पिण्ड है। बीच में जिसमें एक मुंदरी जैसी पडी हुई है शिव हैं। यह जो गोल-गोल चिपटी और बीच में उभरी पासानुमा कुछ बनी है पार्वती हैं आगे की

ओर सूँड जैसा कुछ लटकाये जो पिण्ड खड़ा है, गणेश हैं। शिव के ही लघु संस्करण ग्यारह छोटे-छोटे पिण्ड रुद्र हैं, पड़े बेलन की तरह पिण्ड नन्दी हैं। दादा कुछ देर तक आँखें मूँदते थे। मन-ही-मन कुछ बुदबुदाते थे और अन्त में कहते ॐ प्रतिष्ठः। इसके बाद तो पूरा परिवार वहाँ जाग उठता था, उनका धूप से जल से अभिषेक होता, चन्दन-पुष्प-विल्वपत्र अर्पित होते, धूप-दीप-नैवेद्य चढ़ता, कुछ मंत्रों से स्तवन होता और इन देवताओं के आधार को हिलाकर इन्हें विदा कर देते। मुझे प्रसाद देते, प्रसाद में फल रहता, मेवे रहते और मुझे वह थाली लेकर पीपल के पेड़ के नीचे इन पिण्डों और फूल-पत्तों के सम्भार को पधराने भेज दिया जाता। गर्मी की छुट्टियों में दादा गाँव आते तो प्रसाद की उदग्र प्रतीक्षा रहती। दादा कैसे मिट्टी के चूरे से चिकनी-चिकनी इतनी सजीव आकृतियाँ बना लेते हैं, यह समीप से निहारने का कुतूहल भी रहता था। एकाध बार शिवरात्रि के दिन, घर में कोई वयस्क पुरुष नहीं होता, मुझसे कहा जाता कि पार्थिव बनाओ तो मैं याद करके बनाता पर वैसा सुघड़ नहीं बना पाता। आज उस पार्थिव शिव परिवार का स्वरूप स्मरण करता हूँ और अभी एक से एक कमनीय मूर्तियों और आकृतियों के दर्शन की स्मृतियों से इस स्मृति को जोड़ता हूँ तो विचित्र-सी सिहरन होती है। दादा की बायीं हथेली पर रचा जाता पिण्ड, पंचमुख एकलिंग से, हरिहर से, कल्याणसुन्दर से, केदारेश्वर से, विश्वेश्वर से, नटराज से, अर्धनारीश्वर से, वृषारूढ़ योगीश्वर से, नन्दलाल वसु के भोटिया शम्भु से, इन सबसे अलग है। मैंने इसको रचे जाते और विसर्जित किये जाते देखा है। मैंने इसमें प्राण पड़ते और इसमें से प्राण वापिस करते देखा है। इसको मैंने छुआ है, चन्दन से सुरक्षित पिण्ड की गन्ध मेरे श्वास में भरी है। भारतीय संस्कृति की भी वैसी ही कुछ छाप मन पर है। लोकगीतों के बोलों से, दादा के कण्ठ से निकले स्तोत्रों से, घर में समारोहों पर स्वस्त्ययन के मन्त्रों से, चौरठ (पिसे चावल) के घोल से बनायी जाती आकृतियों से। भागवत कथा से, वेद-मन्त्रों के उच्चारण से, बाबा के मुँह से सुनी रामायण महाभारत की हजार-हजार कहानियों से और घर की दादी बुआ माँ मौसी चाची काकी दीदी और गाँव की अनेक-अनेक दादी बुआ चाची दीदी भाभी समुदाय के प्यार की अलग-अलग अभिव्यक्तियों से ही मैंने अपनी संस्कृति पहचानी है। घर की सँवार से लेकर दादा के पूजा-अनुष्ठान तक प्रत्येक कर्म में मुझे एक ही बात दिखी है, हमारी संस्कृति बड़ी एकाग्र सावधानी माँगती है, एक तिनका जमीन पर पड़ा न रह जाय। एक-एक फूल एक-एक पत्ती छाँट-छाँटकर रखें। कहीं अर्पण के अयोग्य तो नहीं है! एक-एक अक्षर ठीक तरह उच्चरित हो, कहीं कोई क्रम न टूटे। कहीं बीच में विच्छिन्नता न हो, अजस्र प्रवाह चलता रहे, यही तो संस्कृति है और यही शिव की प्राण-प्रतिष्ठा है '

वहुत बाद में पूज्य भैया साहव पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी के निकट सम्पर्क मे आया, उन्होंने बतलाया--मेरे पूज्य पिताजी ने एक बार मुझे समझाया था, देखो पढने-लिखने की एक ही कसौटी है कि अपनी दरिद्रता पर गर्व कर सको। अपने पास कुछ नहीं है तो अपने को हीन न समझो, तुम्हारे पास संस्कार हैं, विद्या है, आचार है, इससे अधिक बड़ी चीज सम्पन्नता नही होती है। भैया साहब की वह बात शिवत्व की मेरी अवधारणा से जुड़कर मन को बहुत आपूरित कर देती हे—सारी योग-पिपासा शान्त हो जाती है। वास्तविक योग तो वह है कि जो दूसरो का योग करके प्राप्त होता है, वास्तविक वैभव तो वह है, जो अपने पास मिट्टी के पात्र ही बचाकर रखता है। मेरी सास बतलाती थीं कि वह जिस बाखरी मे आयीं, वह फकीरी बाखरी थी, बाबा भोजन करने चलते तो जो भी उस समय दरवाजे पर है, उसे न्यौता देते और कभी-कभी स्थिति ऐसी होती कि अपने हाथ से भात-दाल का कौर बनाकर एक-एक कौर सबको दे देते और अपना हाथ चाटकर तृप्त हो जाते। लोटा लेकर चलते, कोई कहता, बावा मेरे पास लोटा नही है और लोटा दे आते, मिट्टी के पात्र मँगा लेते। यह तब जब कि बड़ी जमींदारी थी। सैकड़ों गायें थीं, हजारों बीघे जमीन थी। हमारी संस्कृति ऐसे ही मरघटवासी और फक्कड़ शिव की आराधना करती है। शिव की आराधना का अर्थ है तप ओर ध्यान की आराधना। सदैव संचरणशील भूतभावन की आराधना, मृत्युंजय विषपायी श्मशानवासी योगीश्वर की आराधना, अर्धांगिनी पर सब घर का भार छोड़कर निश्चिन्त घर-बारी की आराधना, घर में कलह हो, कुछ हो, चुपचाप विहँसते रहते भोले बाबा की आराधना, प्रत्येक कला की शिक्षा देने वाले परम गुरु की आराधना ओर "बावरे नाह" बावले मालिक की आराधना, जिसके दरवाजे पर चले जाइए आपको सब कुछ मिल जायेगा। ऋद्धि-सिद्धि सब पा जायेंगे। शिव की आराधना बड़ी सहज है, एक लोटा जल, कुछ बेल की पत्तियाँ, कुछ मदार के फूल, धतूरे के फल, और बम-बम की बोल, शिव प्रसन्न। भारतीय संस्कृति के पास पहुँचना बहुत सहज, अपना यह लोटा यह शरीर—माँजिए, धोइए, चमकाइए, इसमें शुद्ध जल भरिए, नदी के मझधार का जल भरिए। जीवन के अजस्र प्रवाह का रस भरिए, संसार के निखिल मादन भाव को इस संस्कृति के आनन्द के आगे अर्पित कीजिए। अपनी इच्छा क्रिया ज्ञान शक्तियों की विल्वपत्री संसार को अर्पित कीजिए। अपने समूचे उन्मनभाव को अर्पित कीजिए। संस्कृति की यही आराधना हे। निराकार को आकार देना। आकार को प्राणों का स्पर्श देना, भीतर का उमडाव सब बाहर कर देना। बाहर का उमडाव भीतर भर लेना। बौराये हुए संसार का बौराया भाव अपने भीतर कर लेना और भीतर के सारे उन्मादों को विराट उन्माद

के काफिले के पीछे लगा देना, यही तो हमारी संस्कृति है। शिव उसके केन्द्र मे ह और शिव उसको अपने विराट् नृत्य के मण्डलों के घेरे में भी सुरक्षित रखे हुए है शिव उसके स्वामी हैं और शिव उसके आगे भिखारी भी हैं। शिव पिता हैं और शिव ही नंगधडंग शिशु हैं, वड़े गम्भीर और ध्यानस्थ और एकदम अवोध ओर चंचल। इतने ज्ञानी और इतने पागल।

हमारी संस्कृति इसी से इतनी सहज होते हुए भी इतनी असम्भव दिखती हे, शिव की तरह। शायद सहज होना ही असम्भव होना है, शायद ठहरे हुए मन मे भिक्षाटन नहीं टिक पाता, शायद छोटे से मिट्टी के पिण्ड में अपने को आधारित होने वाले स्वर पर प्रतीति नहीं होती, ऐसे छोटे मन में जहाँ बड़प्पन का एक आतक छाया रहता है।

बड़ा मन तो होता ही बड़ा है, जब किसी को भी छोटा नहीं मानता। शिव की जितनी कहानियाँ हैं, वेदों में, पुराणों में, लोककथाओं में, सव एक से एक अद्भुत, एक से एक मोहक। एक-एक का स्मरण करें तो दिमाग चकरा जाता है। उनके अर्थ का अनुधावन करें तो विस्मय होता है अपनी देशी कारयित्री प्रतिभा पर, कैसे-कैसे रचती है शिव के ये अद्भुत संसार। चाहे ब्रह्मा के पीछे धनुष लेकर चले महाव्याध शिव की कथा हो, कि स्रष्टा को सृष्टि से आसक्ति क्यों हुई। अपनी ही सृष्टि में रत होने वाला स्रष्टा नष्ट हो जाए तभी शिवत्व है। चाहे सती की कथा हो, सती की लाश लेकर भूमंडल घूमने वाले उन्मत्त शिव की यात्रा का वर्णन हो, जिसमें सती के अर्थात जो है, उसके आत्म उत्सर्ग कि यदि शिव का मूल्य नहीं तो सती का अर्थ नहीं, शिव का भीषण प्रतिकार हो, खण्ड-खण्ड में वह सत् होने का संकल्प शक्ति का केन्द्र बन जाय, शक्ति पीठ बन जाय; चाहे गौरी की कथा हो कि रूप से समाधिस्थ को नहीं जीत पातीं तो तप से उन्हें खरीद लेती है और उनके साथ जुटकर सौभाग्य की अधिदेवता बन जाती हैं, गौरी-पूजन के बिना कोई शुभकार्य होता ही नहीं। चाहे गंगा को जटाजूट में बाँधकर रखने वाले उस विशाल उत्तरांचल-नाथ शिव के द्वारा प्रसन्न होकर गंगा को मुक्त करने की कथा हो, जिसमें ससुराल का सब सुख भूलकर सिरचढ़ी गंगा के पीछे चोरी से काशी तक दौड लगाते हैं और विश्वनाथ बन जाते हैं, चाहे उनके वन-वन गाँव-गाँव दीन-दुखिया की दशा देखने वाले घुमक्कड़ रूप से जुड़ी अनन्त कहानियाँ हों, जिनमें पार्वती कहती हैं इस दुखिया को सहारा दो, शिव सहारा तो देते हैं, पार्वती का मन रखते है पर सहारा पार्वती के लिए विपत्ति बन जाता है। वे कहती हैं अब मुझे इस संकट से उबारो, शिव फिर कुछ कहते हैं, पार्वती की जान छूटती है, प्रतिज्ञा करती हैं अब कभी भी ऐसे दुख-दरिद्र के बीच में नहीं पड़ेंगी। शिव जानते हैं कि वे बराबर बीच

में पड़ेंगी, बराबर शिव को लाचार करेंगी और बराबर परेशान होती रहेंगी। संसार ऐसे मोह-छोह के आश्वासन में दुःखदायी होता हुआ भी जीने लायक बना रहेगा। प्रत्येक कथा में मोहकता भी है और सहज विश्वसनीयता भी। कहानी में अपूर्वता है और ऐसा भी है, यही तो संगत है।

अपने आराध्य तो ऐसे ही होंगे। आसन मारकर बैठेंगे तो ऐसा लगेगा कि घनघोर वर्षा का जल समेटे बादल एकदम एक जगह जुटकर चुप हैं, वर्षा का पूरा प्रकल्प सोच रहे हैं, या समुद्र यकायक शान्त हो गया है। एक भी तरंग नहीं उठती, या जैसे दिया की बाती एक वायु के सुरक्षित स्थान में एकदम अनझिप जल रही हो—

अवृष्टि संरंभिवांबुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कंपमिव प्रदीपम्।

और मृत्यु के लिए प्रवृत्त हो गये हों तो ऐसे ही सारी गतियाँ विपर्यस्त हो जायें, गति के नियन्त्रक नक्षत्र छितर-बितर हो जायें, जीवन-मरण सब एक-दूसरे में ओत-प्रोत हो जाय, पहचानना कठिन हो जाय, कौन जी रहा है, कौन मर रहा है। उनचासो पवन नागों की तरह फूत्कार उठें, कोई कहीं ठहरा न रहने पाये। सब ताल पर नाच पड़ें, सब कुछ उन्मूल हो उठें, सब उदग्र हो उठें, कुछ नया घटने वाला है। विपर्यास के मास में आनन्द उच्छलित होने लगता है जैसे भवभूति ने ताण्डववर्णन में कहा :

प्रमुदितकटपूतनोत्तालवेतालतालस्फुटत्
कर्णसंभ्रान्तगौरी घनाश्लेपि वस्ताण्डवं
देवि भूयादभीष्ट्यै च हृष्ट्यै च नः।।

सारी सृष्टि जब खलबला उठती है तो शिव की सेना के वेताल, अतृप्त आकांक्षाएँ, अनबुझी प्यासे यकायक ताली पीटने लगती हैं, कान फटने लगते हे, भय छा जाता है, भयवश गौरी एकदम चिपट जाती हैं, और शिव को इस औचक सुख से अपने ताण्डव का साकल्य मिल जाता है। शिव को साकल्य देने वाला यह ताण्डव व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर साकल्य भरने वाला हो। यही महाप्रलयंकारी और अपार संचारशाली ताण्डव पतंजलि के नटेश्वर स्तवन में रूपायित और प्रतिध्वनित होता है जिसमें तरह-तरह के रस्मों के रसायन, तरह-तरह की झंकार, तरह-तरह के दृष्टि निक्षेप और उनके साथ तीसरी आँख के जलते प्रकाश का घेरा बनते जाना है, सारे आवरणों का खिसक जाना है। शिव के शरीर एवं चैतन्य का चैतन्य रह जाना अद्भुत ढंग से चित्रित है—

सदंचित मुदंचितनिकुंचितपदम्
झलझलच्चलित मंजुकटकम्
पतंजलिदृग ———————

कदम्बरुचिमम्बरवसत् परममम्बुदकदम्बकविडम्ब कमलम्
चिदम्बुदमणि वुधहृदम्बुदरविम्
परचिदम्बरनटं हृदि भजे।

या फिर ऐसे होंगे कि भस्म रमाये अपने रंग में फाग गाते चले जा रहे हैं, हर एक से ठिठोली के लिए पात्र बने हुए। और फिर जहाँ से बात शुरू की वर्षा माटी के लोंदे को अपना सलोनापन देते हुए, दादा की हथेली पर शिशु की तरह सँवारे जाते हुए, रचने वाले के हाथ में चुपचाप स्थिर, जैसे चाहो मोड़ दो, जो चाहे पहनाओ-उढ़ाओ और जहाँ चाहे सुला दो। शिव का स्वरूप कहीं ढूँढ़ने की जरूरत नहीं। अपने सहज पार्थिव जीवन के रस से सामान्य से सामान्य मिट्टी जैसी चीज को सींच दीजिए, उसे ऊर्ध्वोन्मुख कर दीजिए, अपनी समस्त सुपुप्त वासनाओं को चन्दन बनाकर घिसिए, उससे उस वस्तु को सुरभित कीजिए, फूल-पत्ती से ढकिए, अपने रचाये प्रकाश से आलोकित कीजिए—यह सब व्यापार ही तो शिव है।

मन, वचन, कर्म में सामंजस्य लाओ, उन्हें शिवमय बनाओ, अपने आस-पास को अपनी दृष्टि से शिवमय बनाओ। शिव तुम्हारे ही प्राणों के भूतभावन उच्छ्वास है। तुम्हारी धरती के ऊर्ध्वग रूप हैं, तुम्हारी ही वाणी के सहज रूप हैं और तुम्हारे भीतर बसी अनुगूँजों के माधुर्य हैं, तुम्हारे आस-पास के ही दृश्य रूप सम्भार की विभूति हैं। भारतीय महाजाति के मन में ये ही शिव अपने ही समग्र अखण्ड रूप बनकर बसे हुए हैं, इन्हें पाना है तो पहले इन सबकी कृपा का स्नेह पाना होगा, वह अपना हो, दूसरों का हो या होने वाला हो, अपनी जन्मभूमि हो, उन दूसरों की जन्मभूमि हो, जो दूसरे हमको लगते नहीं, वह माँ जगदम्बा का कोई भी रूप हो—सीता हो, राधा हो, पार्वती हो, दुर्गा हो, सरस्वती हो, अपनी वाक् परम्परा हो, अपनी कला परम्परा हो, उसके स्नेह की पात्रता ही शिव का सान्निध्य देती है। शिव एकाएक गली के मोड़ पर मिल जायेंगे, या अगर लेशमात्र भी कृपा कर दें, हमें अपने साहित्य, अपनी कला, अपने जीवन-दर्शन में डूबने से कहीं एक क्षण भी लगे कि हम इसके हैं, उसी क्षण शिव बाबा खप्पर लिये खड़े दिख जायेंगे...लाओ दो अपना अहंकार इस खप्पर में और अपने अहंकार के समेत अपने को उस खप्पर में डाल दें, सपने जैसा ही सुख सही पर वह सुख समूचे अस्तित्व को झंकृत कर जायेगा, आप्लावित कर जायेगा, आलोकित कर जायेगा।

भारतीय आराध्य शिव के नाम

शिव के नाम गिनाने की बात ही कुछ छोटी है। तन्त्रों में कहा गया है कि जगत का ज्ञान पाँच प्रक्रियाओं से बना है। अस्ति, भाति, प्रियं, रूपम् और नाम। अस्ति अर्थात् सत्ता का सत्व, भाति अर्थात् सत्ता के साथ सम्बन्ध का ज्ञान, प्रिय अर्थात् सत्ता के आकर्षण का ज्ञान, रूपम् अर्थात सत्ता के स्पष्ट आकार का ज्ञान और नाम अर्थात् सत्ता के आकार को अमूर्त नाम देने की प्रक्रिया। पहली तीन प्रक्रियाएँ शक्ति हैं और चौथी-पाँचवीं रूप-नाम शिव हैं। दूसरे शब्दों में नाम-रूप मे मात्र शिव हैं। अब नाम-रूप के क्या नाम हैं! तो भी भक्त का तो आधार ही नाम है। ध्यान का आधार ही रूप है, भक्त और ध्यानी नाम-रूप देंगे ही। भारतीय साधना के भक्ति और ध्यान दो पक्ष हैं, उस साधना ने शिव को अनेक नाम-रूपो मे साधा है। उनमें से कुछ की ही चर्चा यहाँ की जायेगी।

उनका बड़ा पुराना नाम रुद्र है। रुद्र का अर्थ है लाल, दूसरा अर्थ है रोने वाला, दोनों दशा में यह सृष्टि के मनोवेग का ही रूप है। रुद्र ब्रह्माण्ड के अहेरी है, उन्होंने मृग के रूप में भयवश दौड़ते ब्रह्मा का आखेट किया और उस मृग का सिर ही कटकर मृगशिरा नक्षत्र बन गया। उन्होंने यह सहन नहीं किया कि रचने वाला अपनी रचना पर आसक्त हो, इसी से रचने वाले का मस्तक या अहंकार काटकर अलग कर दिया और शरीर को बना दिया संध्या, ध्यान की वेला। जो अहेरी होगा वह जंगल में विचरण करेगा ही और जंगली पशुओं को अपने वश मे रखने वाला होगा, वह पशुपति होगा ही। शिव का दूसरा प्रसिद्ध नाम है पशुपति, पशु अर्थात सहज आवेग, मन की उद्दाम आकांक्षाएँ, पशुपति इनको पाश से बॉधकर रखते हैं या यों कहें आवेगों का बवंडर, आकुल प्राणों का व्यापार पशुपति के डेरे पर आकर शान्त हो जाता है पशुपति अहेरी के पास धनुष होगा ही होगा पशुपति के धनुष का नाम ही अलग है पिनाक दसरा नाम है बडा

पुराना धनुष है। इससे उनका नाम पिनाकी है। अहेरी की वेशभूषा भयंकर होती है, कौड़ियों और कपालों की माला पहनते हैं, वे कपर्दी और कपाली कहे जाते हैं। कपाल का अर्थ खप्पर भी है, हाथ में खप्पर लिये घूमते रहते हैं। जहाँ-जहां भय है, वहाँ-वहाँ भय को भगाने वाले भूतनाथ पहुँचे रहते हैं। ऐसे के साथ चलेंगे भी कितने भूत-प्रेत, बेताल, जीवन की अतृप्त आकांक्षाएँ, मरी हुई वासनाएँ और पूरा जुलूस सामने आ जाये तो मूर्छा आ जाये। बिचारी सास के हाथ से परछन की थाली ही गिर पड़ी, हिमालय के यहाँ खलबली मच गयी, जाने कैसा दूल्हा गौरी को ब्याहने आया है। पर जो जंगली पशुओं को, पाशविक वृत्तियों को, प्रेतों को, जीवन की अतृप्तियों को शरण देता है, वह कृपालु तो हो ही जायेगा, उसके मन में सबका कल्याण सबका हित करने का भाव होगा ही, सबका उद्धार वह करना चाहेगा ही, वह मृड होगा, मृड का अर्थ है कृपा करने वाला। कुछ अधिक ही कृपा करने वाला, इतनी कि बिचारे विधाता सिर ठोंक लें और उनकी अर्धांगिनी पार्वती से कहें—बावरो, रावरो नाह भवानी, यह अधिकार सौंपिये औरहि भीख भली मैं जानी, यह सृष्टि चलाना मेरे बूते की बात नहीं, इतने बावरे हैं तुम्हारे पति कि इन्हें सम्पत्ति का मूल्य ही नहीं मालूम, किस-किसको सम्पत्ति लुटा देते हैं। ऐसे देवता को अकेले छोड़ना खतरनाक है, इसलिए ऋषियों, मनुष्यों, देवताओं ने कुछ ऐसी युक्ति की कि हिमालय की बेटी के मन में संकल्प हो गया कि मैं इस अकेले घूमने वाले को ही वरूँगी। बड़ा तप किया और महान तपस्वी, महान योगीश्वर, भूतनाथ पार्वती के तप के वशीभूत हो गये। ऐसे कि पार्वती आधा अंग हो गयीं, वे अर्धनारीश्वर हो गये, "इ" की मात्रा, शक्ति लग गयी तो शव शिव हो गये। पार्वती या शक्ति के साथ सामंजस्य ही शिवरूपता है। जो शिव होता है, वह शंकर होता है, शम् अर्थात् कल्याण की संभावना और भावना भी होता है, वह कल्याण करने वाला है तो कल्याण होने वाला भी है। लोग शिव शंकर शिवशंभू कहकर उनको दुगना मंगलमय बना देते हैं।

ऐसे शिव में पाँच-पाँच पक्ष सन्निहित हैं, एक पक्ष दाहिनी ओर भयानक, भैरव, पर अघोर, दूसरा पक्ष है समन्दर, वाम और बीच में सहज सद्योजात, पीछे है तटस्थ निर्विकार तत्पुरुष और ऊपर की ओर देखने वाला है सबका स्वामी ईश या ईशान। इन पाँचों पक्षों को पूरा देखें तो पंच परमेश्वर बन जाते हैं। अघोर भैरव, सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष और ईशान रूप, आगे से देखें तो तीन ही दिखते हैं ईशान रूप तो अव्यक्त रहता है, छिपा रहता है, शिव अपनी प्रभुता छिपाये रखते हैं, तब वे त्रिमूर्ति ही दिखते हैं जैसा कि एलीफेंटा की गुफा में बम्बई के पास शिल्पित है

ऐसे साधक शिव में अन्तरदृष्टि जाग्रत होती है, वही उनका तीसरा नेत्र बन जाता है, वे त्रिलोचन हो जाते हैं, वह तीसरी दृष्टि मुँदी ही रहती है, तभी खुलतीं है जब सब जीर्णशीर्ण हो जाता है। कुछ नई सृष्टि की भूमिका के लिए सब कुछ जो पुराना है उसे भस्म कर देने वाला क्षण आता है। उस तीसरी आँख के ऊपर है चन्द्र की अमृता कला। शिव ने अपने को शक्ति के हाथों अर्पित करके और विश्व का समूचा जहर पी के अमृता कला पायी है, सोम तत्व का निचोड़ पाया है, इसी से वे चन्द्रमौलि हैं, कलाधर हैं, चन्द्रचूड़ हैं। और इसी से वे रस-प्रवाहिनी गंगा के वाहक हैं। गंगाधर। गंगा उनके जटाजूट में छिपी रहती हैं।

एक ओर वे रावण-वाणासुर जैसे प्रबल राक्षसों के आराध्य हैं, दूसरी ओर देवों के महादेव हैं। एक ओर वे कैलाशनाथ हैं, दूसरी ओर महाश्मशाननिवासी काशीनाथ हैं। एक ओर नंग-धड़ंग दिगम्बर हैं, भिखमंगों की भंगिमा में रहते हैं, दूसरी ओर वे भव-विभव के स्वामी परमेश्वर हैं, भव हैं। पर इन सब नामों से प्यारा नाम है भोलानाथ। भोला, भोलेनाथ, भोलानाथ कहकर जब हम पुकारते हैं तो हमारे मन में बड़ा विश्वास रहता है, वे तुरन्त रीझ जायेंगे, वे आशुतोष हैं, अवढरदानी जो हैं। हाँ भोले हैं, इसलिए उन्हें पाने के लिए भोला होना पड़ेगा, बोध का अहंकार काट करके उनके सामने जाना होगा। अपने भीतर विश्व-भर की ममता जगानी होगी, तभी हम भोले बाबा के पास पहुँच सकेंगे।

यही शिवरात्रि का संदेश है कि व्यवहार में बनावटीपन छोड़ो, छलकपट का त्याग करो, सरल-सीधे बनो, करुणामय बनो, अपने शरीर को साधनधाम बनाओ, अपने को बालक-रूप में प्रस्तुत करो, सहज बनो, विश्वासी बनो, तभी तुम शिव के हो सकोगे, शिवमय हो सकोगे। ओम् नमः शिवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च नमः।
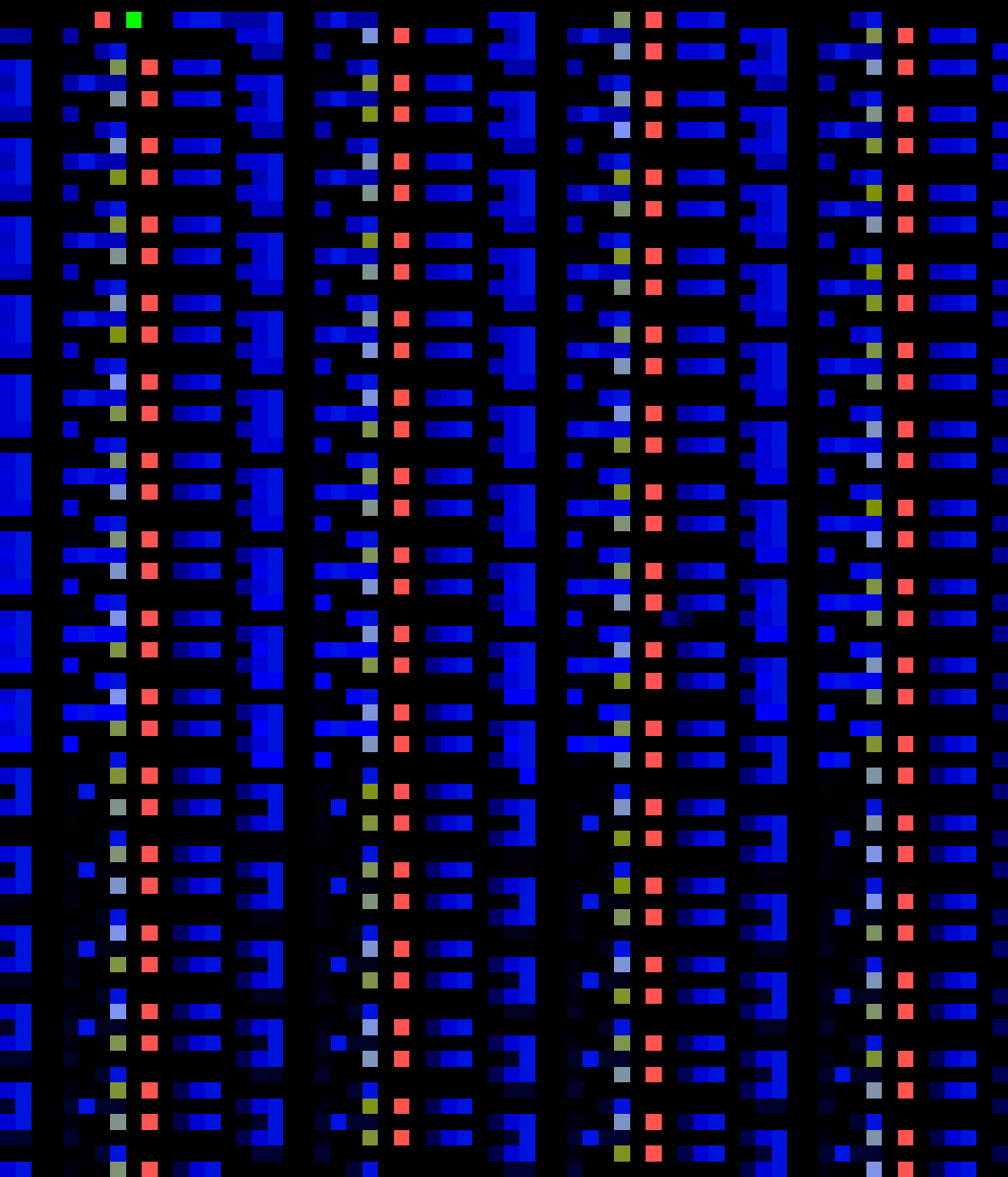
शिवरात्रि के लिए

शिव भारत के महादेव हैं। इस अर्थ में महादेव हैं कि बसते हैं कैलाश में, पर रमते हैं समूचे भारतवर्ष मे, जंगलों में, नदियों के किनारे, समुद्र के बीच में और पहाड़ों की चोटियों पर अपना डेरा जमा लेते हैं। जरूरी नहीं कि वहाँ मन्दिर खड़ा हो जाय, कभी वह पेड़ के नीचे आराम करते मिल जायेंगे, कभी नदी के बीच पत्थरों के साथ केलि करते मिल जायेंगे, कभी घर-आँगन में छोटी-सी काँसे की थाली में कुछ क्षणों के लिए विराज जायेंगे और कभी केवल बमभोला के बोल में, कभी गीत में, कभी नृत्य में, कभी पत्थर में, कभी सोने में, कभी मिट्टी में, कभी पानी में, कभी वायु में, कभी प्राणों के साथ जपे जाते बीज मे—कहाँ पहुँच जायेंगे कुछ ठिकाना नहीं। चिता के भस्म को विभूति और विभूति का भस्म बनाते उन्हें देर नहीं लगती। श्मशान उनके खेल का मैदान है, मृत्यु उनके कण्ठ की शोभा है। विश्व के मोहक सौन्दर्य की कला उनके ललाट की शोभा है। भय को उन्होंने बाँहों में गले में पहन रखा है। दिशाएँ उनका वस्त्र हैं। हाथ में भिक्षापात्र, पर औघड़दानी ऐसे कि कोई खाली हाथ लौटा नहीं, मनमाना लेकर गया। तुलसीदास के विधाता ब्रह्मा घबरा उठे—

जिनके भाल लिखी नहीं मेरी सुख की कहूँ निसानी
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयौ नकवानी

पार्वती से कहा कि क्या तुम्हारे ये पति देवता बौरा गये हैं, जिन अभागों के ललाट में सुख का चिह्न भी नहीं लिखा था, उनको स्वर्ग पधराते-पधराते नाकों दम है। यह अधिकार दूसरे को सौंपिए, इससे अच्छा तो भीख माँगकर जीना है।

भारत का मन ऐसे बौराए देवता पर सहज लुभा जाता है और ऐसे देवता से जुड़कर ही हर एक मन महीप बना रहता है, कभी अनुभव नहीं करता कि वह कहीं से हीन है जो अपने को हीन अनुभव करता है वह फिर इस महादेव से जुडा

नही, क्योंकि जो जुड़ेगा, वह सहज ही समझ लेगा कि अकिंचनता ही तो ऐश्वर्य है। न कुछ होना ही ऐश्वर्य को निमंत्रण है।

ऐसे महादेव के भारत में मुख्य रूप में बारह स्थान हैं, जिन्हे हम ज्योतिर्लिंग कहते हैं। ज्योतिर्लिंग का अभिप्राय बस इतना है कि उस स्थान पर बैठें तो अपने भीतर का प्रकाश उदित हो जाता है, उस स्थान का एक ऐसा स्पन्दन है जो सुषुप्त चेतना कुण्डलिनी को जगा देता है, यदि एकचित्त होकर कोई ध्यान करे। वहाँ सकेत है कि बस अपनी ज्योतिर्मयी चेतना का आवाहन करो, अभी करो। इस शरीर में रहते हुए, इस वर्तमान नें प्रकाश को आराधो, स्मरण करते रहो कि यहाँ शक्ति शिव के साथ समरस हैं, यहाँ प्रकाश का विमर्श धारा के रूप में हो रहा है।

शिवसाधना और शवसाधना में कोई फर्क नहीं है, श मे इ की शक्ति की मात्रा भर लगा दें, शिवसाधना हो जाय। जो कुछ जड़ है, मृत है, सोया है, उसमे भी शक्ति है, उसमें भी चैतन्य-प्रतिभा है, उसे पहचानो, बस शिव उपस्थित हो जायेंगे, सौम्य रूप में। जो उसे नहीं पहचानते, जो अपनी शक्ति नहीं पहचानते या फिर अपनी शक्ति को निजी शक्ति मानते हैं, उनके लिए शिव महाकाल है, महारुद्र हैं, प्रलयंकर हैं, अघोर भैरव हैं।

ये स्थान हैं हिमालय में केदार; काशी में, आनन्दकानन में, महाश्मशान में विश्वनाथ; परली में वैद्यनाथ, उज्जयिनी में महाकाल, नर्मदा के अंक में ओंकारेश्वर, गोदावरी तट पर त्र्यम्बकेश्वर, दारुकावन में नागेश, समुद्रतट पर सोमनाथ, घने अरण्य में भीमशंकर और घूष्णेश्वर में श्रीशैल पर मल्लिकार्जुन और समुद्र के सेतु मे रामेश्वर। इन स्थलों की यात्रा मन पर ज्योति की तलाश की यात्रा है, वह ज्योति बीहड़ स्थानों में रहती है, संकेत देती है कि प्रकाश सुख-सुविधाओं के घेरे में कैद नही रह सकता, वह कुबेर जैसे भंडारी की उपेक्षा करके निकल पड़ता है भुतहे ककालों के बीच, उपेक्षितों-विस्मृतों के बीच, उसकी तलाश में चलना है तो उपेक्षितों की और बिसराये जनों की भावभाषा समझो, उनके चेहरे पर खिलने वाली सहज मुस्कान पढ़ो, उनके पैरों में थिरकने वाली लय को निहारो, तब वह ज्योति यकायक दिख जायेंगी।

शिव का ध्यान इस देश की मिट्टी, नदी, आग, हवा और आसमानी रंगत का ध्यान है, इस देश के मन, इस देश की इतनी परिपक्व बुद्धि और इस देश की अस्मिता का ध्यान है, इस देश की महाशक्ति के साथ रचे हुए एक ऐसे मंगल का ध्यान है, जिसमें हिमालय की रत्न सम्पदा न्योछावर हो जाती है, प्रकाश के रूप देवता अघा जाते हैं, अन्धकार के रूप प्रेत-वेताल अघा जाते हैं, नाग मणिहार बन जाता है गंगा मालती माल बन जाती है और गजचर्म बन जाता है दुकूल बारात

विदा होती है तो हिमालय अकिंचन हो जाते हैं, उनके पास बिटिया को देने को बस रह जाता है बावन हंडा सोहाग, शंकर चिंतित हो जाते हैं कि बाप रे बाप पार्वती वैसे ही बड़ी गुमान वाली, बावन हंडा सोहाग लेकर चलेंगी तो बस तो इन्हीं का चलेगा। उन्होंने चाल चली कि बूढ़ा बैल है इतना सोहाग ले जाकर क्या करोगी, रास्ते में बाँटती चलो। लोक में कथा है, तपसी स्त्रियों ने नहीं लिया, रानियों ने नहीं लिया, लिया तो साग-सब्जी बेचने वाली स्त्रियों ने, खटने वाली धोबिनों ने और उन सबने जिनको हम सतीत्व की मर्यादा नहीं देते। सबने सोहाग पाया, शिव निश्चिंत हुए कि अब पार्वती कुछ वश में रहेंगी। पर जितने भी हंडे बच रहे थे, उनका पुण्य प्रताप, चलता है पार्वती का ही। शिव के हाथ में चाभी नहीं है और प्रतिदिन ये भूखे नंगे की ओर से खप्पर लिए पहुँच जाते हैं, अन्नपूर्णा, पेट भरो। कितनी भूख निवारती हैं भवानी और थकती नहीं।

शिव का स्मरण गृहस्थी के सुख का स्मरण है, जहाँ गृहिणी सब कुछ है, उसी के बलबूते पर, उसकी उदारता और उसकी सौभाग्य-महिमा के बल पर संसार चलता है। एक ऐसे घर का स्मरण है, जो सबका घर है और किसी एक का घर नहीं है, जो बच्चों के लड़ने-झगड़ने से भरा-पूरा रहता है और जो घर वाले की निश्चिंतता में मस्ताया रहता है। इस सामान्य घरेलू जीवन को सहज भाव से लेना इसके सुख-दुःख को, हर्ष-विषाद को, राग-द्वेष को, और ज्ञान-अज्ञान को, दिन-रात को ऐसे लेना कि ये सब प्रकाश के ही खेल हैं, अन्धकार भी प्रकाश की ही लीला है, मृत्यु भी जीवन के छन्द की यति है, एक विरामचिह्न है, उससे जीवन का वाक्यार्थ लगता है।

शिव का ताण्डव, शक्ति के सन्तुलन के लिए और देवी का लास्य, शिव की सरसता के आवाहन के लिए होता है। यदि इतना ही हम आज शिवरात्रि के दिन स्मरण करें कि यह रात शिव-पार्वती के सोहाग की ही रात नहीं, यह विश्व-सृष्टि के बीच संवाद की स्थिति लाने वाली, व्यष्टि-समष्टि के बीच समरसता स्थापित करने वाली उत्सव रात्रि है, इसका एक-एक क्षण चिन्मय प्रकाश की ताल पर नाच रहा है, एक-एक क्षण अपूर्व उल्लास की नयी हिलोर है तो हम शिव को उस उल्लास में पा लेंगे।

श्रीकृष्ण का गीता-दर्शन

श्रीकृष्ण से इतना प्यार लोगों को क्यों है, उनमें क्या आकर्षण है, क्या जादू है, जो पराये से पराये को उनका अपना बना देता है, और वे पराये से भी अधिक पराये बने रहते हैं। इस पर विचार करते हैं तो लगता है कि उनका जीवन-दर्शन और जीवन-चरित दोनों ही कुछ इस प्रकार के हैं कि अपनी सम्पूर्णता से हर किसी का आकृष्ट कर लेते हैं और हर किसी के लिए तब तक अगम्य बने रहते हैं जब तक कि उनके साथ व्यक्ति का भावयोग नहीं स्थापित होता। इतिहास की सीमित समझ रखने वालों ने अनेक कृष्णों की कल्पना की--गोपाल कृष्ण अलग हैं, देवकी पुत्र कृष्ण अलग हैं, योगेश्वर कृष्ण अलग हैं, गीता के कृष्ण अलग हैं--इसके कारण हमारे मन में बड़ा सम्भ्रम है कि कौन कृष्ण सही हैं, असली हैं। पर जहाँ तक पुराणों, उपनिषदों के पढ़ने से मुझे समझ में आया है, वह यही कि ये सभी न हों तो पूर्णावतार कृष्ण क्या होंगे! जो पुरुष गोपियों, गउओं, करीलों, ग्वालों और कछारों के साथ न रहा हो, वह सहजता और जीवन का उच्छल उत्साह कहाँ से पायेगा। जो पुरुष इतनी हजार तरह की मनोवृत्तियों के भीतर पैदा न होगा, जिसने हर प्रकार की मनोवृत्ति के साथ रास न रचाया होगा, वह क्या समझेगा जीवन की जय क्या होती है ?

अलग-अलग भाव वाले भी किस प्रकार एक तान पर लयबद्ध रूपों में रागों का मण्डल रच सकते हैं, यह श्रीकृष्ण के साथ-साथ घूमे बिना समझ में नहीं आ सकता।

श्रीकृष्ण ने बचपन गोचारण को दिया, गोवर्धनधारण को दिया, गोरस और गोरस के वितरण को दिया, वादन-गायन-नर्त्तन को दिया, बड़ी-बड़ी शक्तियों के मद के निवारण को दिया कालिय की विषभरी ज्वालाओं से यमुना के उन्मोचन को दिया प्यार के खुल को दिया और इन सबसे अलग हुए मथुरा गये

वहीं से सान्दीपनि (संदीपन के पुत्र) घोर आंगिग्स के पास भेजे गये। कठिन जीवन बिताया। वेद पढ़े, उपनिषद पढ़े और अन्तिम उपदेश के रूप में उन्हें वतलाया गया (कहानी छान्दोग्य उपनिषद में मिलती है) यह पूरा जीवन यज्ञ है, जो तुम भूख-प्यास अकेलेपन से परेशान होते हो, यही दीक्षा है, यही यज्ञ मे प्रवेश है। अपनी भूख से ही समष्टि की भूख का अंदाज लगता है, अपनी प्यास से दूसरे की प्यास का अन्दाज लगता है। अपने अकेलेपन से दूसरे के अकेलेपन का अन्दाज लगता है। भूख मिटाने का उपाय करना, प्यास बुझाने का उपाय करना, अकेलेपन को दूर करने का उपाय करना यही सब जीवन-यज्ञ की वेदी के पास पहुँचना है। अपने लिए आदमी जब उपाय सोचता है तभी वह दूसरे के लिए भी सोच सकता है। इसके बाद जब आदमी अपने पूर्ण तृप्त मन से अपने को समष्टि की वृद्धि के साथ एकरस कर लेता है, यही जीवन यज्ञ की वेदी पर आहुति है। अन्त में जब ऐसे व्यक्ति के पास मृत्यु आती है तो वह यज्ञ की समाप्ति के स्नान के रूप मे आती है। जीवन का प्रत्येक सार्थक क्षण नवजीवन है, पुनरुत्पादन है, सृष्टि क नयेपन का टटका अनुभव है।

अन्त में घोर आंगिरस ने देवकी पुत्र श्रीकृष्ण से कहा, नित्य अनुभव करो, तुम अच्युत हो, अक्षित हो। तुम्हारा कोई अपना घर नहीं। तुम प्राणसंशित हो (तुम्हारे प्राण घिरे हुए हैं) छोटी आत्मीयता और बड़ी आत्मीयता के बीच तुम्हें दोनो का निर्वाह करना है।

श्रीकृष्ण ने अपना कैशोर्य तप को दिया। इसीलिए उनका यौवन और उनकी प्रौढ़ावस्था केवल पश्चिम से पूर्व उद्धार में लगी। दूसरों को आगे बढ़ाकर उन्हें यशस्वी बनाने में लगी। युधिष्ठिर के रूप में केन्द्राभिमुख राज्य-शक्तियों का केन्द्र बनाने में लगी। इतने बड़े होकर भी उन्होंने युधिष्ठिर के यज्ञ में लोगों के पाँव पखारे, जूठी पत्तलें वटोरीं। उन्होंने सारथि होकर घोड़ों की सेवा का नमूना प्रस्तुत किया। और अन्त में अपनी ही जाति के लोगों का मद नष्ट कराया। अकेले अस्त्र-शस्त्रहीन जरा के बाण के आवेध्य हुए। उनके चेहरे पर मोहक मुस्कान बराबर बनी रही। इतना मोहछोह उन्होंने लोगों को दिया, इतना लोगों को सम्मोहित किया, इतना लोगों को सिखाया-पढ़ाया, आगे बढ़ाया पर सबके साथ निस्संग रहे। सबने सोचा हम छले गये और सबने छले जाने में अपूर्व आस्वाद पाया।

ऐसे श्रीकृष्ण जब गीता में अर्जुन को उपदेश करते हैं तो वे पूरी तरह स्वय आहुति बन चुके हैं, पूरी तरह अपने को साध चुके हैं। छोटे दायरों को लाँघ चुके है अर्जुन के सामने मृत्यु भय उपस्थित हुआ श्रीकृष्ण ने भय दूर करने के लिए

ऐसे जीवन में अर्जुन को प्रवेश कराया, जहाँ भय नहीं है, मृत्यु की चिन्ता नही, केवल सार्थक जीवन ही चिन्ता है। गीता के उपदेश का सार है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावभव्ययमीक्षते
अविभक्तं विभक्तेषु ज्ञानं तद्विद्धि सात्विकम्।

सभी सत्ताओं को एक बड़े भाव की ओर अभिमुख देखना ही शुद्ध ज्ञान है। अलग-अलग खण्ड-खण्ड जो भी ऊपर दिखता है, वह सब एक अखण्ड अविभक्त विशाल विश्व है, अलगाव ऐसा नहीं कि एक दूसरे के विना रह सके, एक-दूसरे की अपेक्षा करते हुए अलग-अलग अंगों के अलग-अलग पदार्थ हैं, मनुष्य हैं। इस प्रकार का ज्ञान कोरा बौद्धिक नहीं होता, यह भक्तियोग बन जाता है, क्योंकि विशाल की ओर देखना सब अधूरेपनों से मुक्त हो जाना है। यही कर्मयोग बनता है, क्योंकि कर्म पूर्ण स्वतंत्र भाव से तभी किया जा सकता है और करते हुए भी उससे अपनी छोटी निजता को अलग रखा जा सकता है। अर्जुन छोटी निजता का शिकार था, और वह यकायक डरा कि निजता ही नष्ट होने जा रही है। श्रीकृष्ण ने पहले उसके वीरभाव को जगाया, फिर उसे सही कर्म की पहचान करायी, फिर उसे विराट सत्य का दर्शन कराया और अर्जुन को सही भक्तियोग के लिए प्रस्तुत किया। इसके बाद अर्जुन में क्षमता आयी कि वह उस ज्ञान को ग्रहण कर सके, जो पदार्थों और मनुष्यों की सापेक्षता की बात करता है।

श्रीकृष्ण अगर अपने को अनेक भूमिकाओं में डालकर पूरा जीवन जिये न होते तो उनका उपदेश शब्द बनकर रह जाता पर जो व्यक्ति गीता पढ़ता है, सुनता है, गुनता है, वह श्रीकृष्ण के अनेक रूपों को सामने देखता है। यह भी देखता है कि यह महापुरुष हरेक मर्यादा का निर्वाह करता है, उसे तोड़ता है। बड़ी मर्यादा बनाता है, फिर उसका भी अतिक्रमण करता है, यह निरन्तर प्रतिपादित करता चलता है कि जीवन पूरा का पूरा स्वीकार है, वह निषेध नहीं है, वह कोरा त्याग नहीं, संग-त्याग है, आसक्ति-त्याग है। कोई भी कार्य अपने आप में भला या बुरा नहीं, कितना वह विराट सत्य का सहज ध्यान रख करके किया गया है, कितना नहीं किया गया है, इस आधार पर भला-बुरा बड़ा-छोटा है। श्रीकृष्ण ने योग की कई परिभाषाएँ दीं, योग अच्छी तरह काम पूरा करता है, अच्छी तरह पूरा ही तब होगा, जब सम्पूर्णता का ध्यान रखा जायेगा। योग का दूसरा लक्षण उन्होंने दिया 'समत्वं योग उच्यते', एक-दूसरे से ठीक तरह ताल-लय मिला लेना ही योग है। इन सब परिभाषाओं में, अपने को सबके साथ साधने पर बल है। यही श्रीकृष्ण की जीवन-दृष्टि है, यही उनका गीता-दर्शन है और यही उन्हें भारत का भाव पुरुष बनाता है

जय : अपराजित जय

मेरे पिताजी और दादा जब प्रणाम करने पर आशीर्वाद देते थे तो उनके मुँह से तत्काल निकलता था--जय। मेरे अत्यंत आत्मीय भाई अज्ञेयजी मिलने पर जय से ही अभिवादन का उत्तर देते थे। दूसरी ओर अपने आराध्यों के लिए जैकार ही करना हमारा अभ्यास है। इस प्रकार जय प्रणाम भी है, जय आशीर्वाद भी है और जय बराबरी के संबंधों में प्यार भी है। जय सभी संबंधों को अभिव्याप्त करता है। इस जय में निहित है कि बिना किसी को कष्ट पहुँचाए उत्कर्ष करें। ऐसा न होता तो हम देवता या अवतार या बुद्ध या महावीर के आगे जय शब्द क्यों लगाते। हमारी जययात्रा पराजित्त करने का उल्लास नहीं है, अपने भीतर की ऊपर जाने वाली प्रवृत्तियों के प्रति अपने को अर्पित करने का भाव है।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न उठता है राम की रावण के ऊपर जय या देवी की असुर शक्तियों के ऊपर जय किसी अन्य का नाश करके ही तो है। इन्द्र ने वृत्रासुर को पराजित किया, तभी तो वे जयी हुए। प्रश्न अपनी जगह सही है। अश्वमेध या राजसूय यज्ञ के पूर्व दिग्विजय की परंपरा भी रही है। पर वहाँ भी निरंतर इस पर बल रहा है, पौधे को उखाड़ो और उसे फिर से रोप दो। इसके लिए पुराने अभिलेखों में 'उत्खात प्रतिरोप' शब्द का प्रयोग बराबर मिलता है। राज्य-विस्तार की बात हमने इन यात्राओं पर आरोपित की है। उपनिवेशवादी प्रवृत्ति कभी भी हमारे यहाँ रही नहीं, हाँ उपनिवेशवाद की छाया में जरूर हमने उपनिवेशभाव से भारत के साझीदार देशों को काफी अरसे तक देखा। हमने वृहत्तर भारत की बात की। पर वह बात बहुत छोटी है। यहाँ तक कि सांस्कृतिक आरोपण भी हमने नहीं किया। वियतनाम के ऊपर चीनी और भारतीय प्रभावों की तुलना करते हुए कला-समीक्षकों ने कहा कि जहाँ चीन से प्रभावित कला में वियतनामी व्यक्तित्त्व लुप्त है वहीं भारत-प्रभावित या ठीक-ठीक कहें भारत भावित कला में देशी

प्रतिभा का पूरा प्रस्फुटन है। यही बात हम कम्बोडिया के अंकोरवाट में ओर हिदेसिया के बारोबुहूर में पाते हैं। भारत की प्रकृति आक्रामक नहीं है, वह प्रकृति हमेशा साझेदारी का निमंत्रण देती रही है। यहाँ आदान-प्रदान दोनों हुए हे। हिदेसिया के मंदिरों को देखकर उसके अनुरूप सोपानमय (जिसे पैगोड़ा कहा जाता है) मंदिर ललितादित्य ने कश्मीर में बनवाये। इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

राम ने रावण का राज्य अधिगृहीत नहीं किया, विभीषण को राजगद्दी देकर वे अयोध्या आये। राम ने सुग्रीव का राजतिलक किया, राम ने निषादराज गुह के राज्य को गौरव दिया। महाभारत युद्ध में युधिष्ठिर जीतकर गहरा शोक करते है कि किसके लिए राज्य भोगा जाये। जो साथ भोगने वाले थे, वे चले गये। देखने मे रामायण महाभारत युद्ध-गाथा लगें, पर वस्तुतः वे जयकाव्य हैं, वे सहज मानुषभाव के उत्कर्ष के काव्य हैं। राम का अयोध्या में अभिषेक उतना महत्वपूर्ण नही, जितना चित्रकूट में उनका गिरिजनों के बीच और तपस्वी ऋषियों के बीच रहते हुए सहज जीवन का आदर्श प्रस्तुत करना महत्वपूर्ण है। युधिष्ठिर के जीवन का भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंश या तो उनकी वनयात्रा है या फिर स्वर्गारोहण के बाद नरक में एक घड़ी रहते हुए यह संकल्प है कि यदि मेरे रहने से मेरे बंधुओ को सुख है तो मैं नरक में ही रहूँगा। स्वर्ग की मुझे दरकार नहीं। ये दोनों स्थितियाँ मनुष्यभाव के उत्कर्ष की सूचक हैं, मनुष्य विशेष के उत्कर्ष की सूचक नहीं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमारी वीरता का आदर्श एकदम अलग है। प्रसादजी के शब्दों में वह 'उन्माद या आँधी' नहीं है। वह उदारता है, तितिक्षा है, झेलने की शक्ति है, अपार धैर्य है, दूसरों, विशेषकर दुर्बल लोगों की रक्षा का भार है। पराक्रम के लिए जो प्रतीक है बाहुबल, वही सहारे के लिए भी है। राम भी दुर्बल की बाँह है, रक्षकमात्र विराट पुरुष की बाहु है। इसीलिए महायोगी श्रमण महावीर महावीर कहलाते हैं। प्राणशक्ति के प्रतिमान हनुमान महावीर कहलाते हे। अपार शक्ति को भीतर समाहित करके रखना ही वीरता का आदर्श है। उसका प्रदर्शन वीरता का उपहास है।

इसी प्रसंग में बात आती है विभीषण की शंका की :

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा
देखि बिभीषन भयउ अधीरा।

रावण रथ पर सवार और रघुवीर रथविहीन पैदल, कैसे जीतेंगे, यही सोच-सोचकर विभीषण अकुला रहे हैं। राम ने जान लिया कि विभीषण अब भी असुरभाव से आतंकित हैं उन्हें मानुषभाव की अपार क्षमता का आभास कराना चाहिए उन्होंने जा उत्तर दिया वही इस युग के मानुषभाव के सबसे बडे महात्मा गाधी

के लिए साधना का सोपान बना। इसीलिए उसे पूरा उद्धृत करना उचित होगा

सुनहु सखा कह कृपा निधाना
जेहिं जय होई सो स्यंदन आना
सौरज धीरज तेहि रथ चाका
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका
बल बिबेक दम परहित घोरे
छमा कृपा समता रजु जोरे
ईस भजनु सारथी सुजाना
बिरति चर्म संतोष कृपाना
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा
बर विज्ञान कठिन कोदंडा
अमल अचल मन त्रोन समाना
सम जम नियम सिलीमुख नाना
सखा धरममय अस रथ जाके
रिपु रन जीति सकहिं नहिं ताके।

जिस रथ पर चढ़कर वास्तविक विजय होती है, वह रथ कुछ दूसरा है, मित्र तुम बुद्धिमान हो, उस रथ को तुम अपने भीतर देख सकोगे। इस रथ के पहिए हैं शौर्य और धैर्य। इसमें सत्यशील की दृढ ध्वजा फहरा रही है, आत्मबल विवेक और परहित ये बीस घोड़े जुते हुए हैं। इन घोड़ों पर क्षमा कृपा और समता की तिलड़ी-सी बनी लगाम लगी हुई है, घोड़े इधर-उधर नहीं जा सकते। ईश्वर मे अविचल भक्ति ही सारथि है, वैराग्य या निस्संग अनासक्त भाव ही ढाल है, संतोष ही कृपाण है, दान ही फरसा है, बुद्धि ही अस्त्र है, श्रेष्ठ विज्ञान ही धनुष है, निर्मल और स्थिर मन ही तरकस है, संयम और नियम ही अचूक बाण हैं।

मित्र देखो, यही जिताने वाला रथ है।

आज इस रथ की बहुत याद आती है। इस शताब्दी के संहारकारी मुद्दो ने यह और भी प्रमाणित कर दिया है कि हार-जीत का कुछ अर्थ नहीं रह गया। जब तक जीत अपने पर नहीं होती, तब तक आदमी हारा हुआ है। हम साफ देख रहे हैं कि जीत का दम भरने वाला, विजय दिवस मनाने वाला हारता रहा है और हारने वाला नई शक्ति लेकर उठता रहा है। जीत आसुरी उपायों से हो नहीं सकती। जीत का एकमात्र अर्थ है अपराजित भाव। देवी अपराजिता हैं। किसी के आगे हार न मानो किसी के आगे झुको न, झुको, जब यह लगे कि वह झुक रहा है। इसके लिए भीतर प्रतिरोधक शक्ति पैदा करो

पहले चाहे यह पुकार अवास्तविक लगती रही है, पर बीसवीं सदी की घटनाओं ने और मनुष्य की नई चेतना ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के भीतर का भाव जब तक अपराजेय रहता है अर्थात सौ-सौ उत्तेजनाओं और उकसावों के बावजूद शांत रहता है, तब तक वह कभी विजित नहीं होता। पोरस, कलिंगराज, स्कंदगुप्त, पृथ्वीराज, राणा संग्राम सिंह, राणा प्रताप की पूरी परपरा अपराजेय योद्धाओं की परंपरा है। हमारे भीतर एक मानसिकता भरी गई कि हम सदा हारने वाली, सदा पिटने वाली महाजाति हैं, हर कोई चढ़ाई करता रहा और विजेता होने का गौरव पाता रहा। हिन्दू मात्र पराजय की भावना से ग्रस्त है। इसलिए कुछ अतिरिक्त पराक्रम का प्रदर्शन करना चाहिए। परंतु लोग उस नकार की शक्ति को भूल गए हैं कि मुगल शासक का नाम तक तुलसीदास ने नहीं लिया, केवल व्यवस्था की ओर हलका-सा संकेत किया, पर ऐसा नकारा उन्होंने साम्राज्य को कि राम के आगे कोई राजा नहीं रह गया। और अधिक मधुर रूप में सूरदास ने नकारा, एक गोपाल की वंशी की तान के आगे सब कुछ व्यर्थ करके। 'नंद नदन अछत कैसे आनिए उर और'। सामने बैठे हैं शहंशाह अकबर और सूर कहते है अब इस हृदय में दूसरे के लिए जगह नहीं है। पूरे भक्ति साहित्य ने शाहे वक्त को एकदम नजरअंदाज कर दिया। इस नकार का ही प्रभाव था कि मुसलमान ने प्यार का महत्व समझा, उन्होंने साथ रहने का महत्व समझा।

हमारे युग में ऐसे नकार का उद्‌घोष महात्मा गांधी ने किया, पर कहीं वह नकार का संकल्प कमजोर पड़ गया है, तभी अनेक प्रकार के रथों की आवश्यकता लोगों को हो रही है। पर ये सभी रथ बेकार हैं। भारत का मन उस विरथ रघुवीर के साथ है, जिसके कोई रथ नहीं और है तो वह रथ बड़े मानवीय भाव का इतना बडा रथ है, जिस पर सब एक साथ सवार हो सकते हैं, सब रथी हो सकते हैं, सब सारथी हो सकते हैं।

राम की विजयादशमी मनाते हुए हम अपने भीतर अनुभव करें कि इतने आक्रमणों के बावजूद हम जो हारे नहीं, उल्टे सारी दुनिया अब हमारी अहिंसक प्रतिरोधक शक्ति का महत्व समझने लगी, परिस्थितियों ने वह महत्व समझा दिया तो निश्चय है कि हम अपने भीतर न केवल आत्मविश्वास भरेंगे, बल्कि साथ रहने वाले लोगों के भीतर भी आत्मविश्वास भरेंगे कि डर की कोई बात नहीं। असुरक्षा की कोई बात नहीं, आदमी आदमी के लिए है, हर पदार्थ दूसरे पदार्थ के लिए है, क्योंकि यही जगद्धात्री जयंती के अपार वात्सल्य की वास्तविक प्रतीति है। जय हो इस अपराजित जय की।
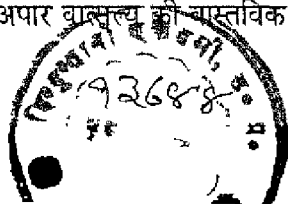
गंगा-योजना के लिए नयी राजनीति

हमारे योजनाप्रेमी देश में पर्यावरण की रक्षा की योजना बहुत पहले ही बननी शुरू हो गयी, स्टाकहोम सम्मेलन में आज से दशक से अधिक पूर्व भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री ने पर्यावरण-रक्षा की चेतना की बात उठायी थी और विकसित देशों से माँग की थी कि वे अपने से बाहर के विश्व के पर्यावरण की भी चिन्ता करें। इसी क्रम में कई आन्दोलन हुए, चिपको आन्दोलन ने हिमालय के वनों की रक्षा की बात की, उसको अखबारी समर्थन मिला। केरल में शांत घाटी (साइलेंट वैली) की रक्षा के लिए आन्दोलन चला, केन्द्रीय सरकार ने वहाँ हस्तक्षेप किया। प्रकृति में सन्तुलन बनाये रखने के लिए कितने अरण्य अभयारण्य घोषित हुए। अंत में गंगा की रक्षा के लिए एक समग्र योजना की घोषणा की गयी। कुछ महत्वपूर्ण स्थानों पर गंगा के जल की शुचिता बनाये रखने के लिए उसमें गिरने वाले दूषित पदार्थों के निस्तारण की वैकल्पिक व्यवस्था के लिए कुछ करोड़ रुपये खर्च हुए, पर अभी तक मेरे जैसे साधारण आदमी की दृष्टि में गुणात्मक परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता।

मैंने इस समस्या पर गहराई से सोचा, कई बार मन में यह भी संकल्प हुआ कि गंगा भारत की प्राणनाड़ी है, इसके लिए जीवन उत्सर्ग करना पड़े तो करना चाहिए, केवल कागजी चेतना से काम नहीं चलेगा। एक समूह तैयार करना होगा जो गंगा के और उसमें मिलने वाली नदियों के स्रोत से ही मनुष्य की धन-लोलुपता और भविष्य के प्रति अचेतनता के कारण जो कुछ विनाशकारी कार्य हो रहे हैं, उनको रोकने के लिए धरने का कार्यक्रम चलाए। यह भी सोचा कि कई ऐसे मुद्दे हैं जो वर्तमान पर्यावरण-विधियों के अधीन भी सर्वोच्च न्यायालय में सार्वजनिक हित में उठाये जा सकते हैं इसके लिए स्वयंसेवी विधिविशेषज्ञों की टोली तैयार करनी चाहिए काशी मे एक सस्था है उसको भी गतिशील बनाने की बात सोची

परन्तु अभी कुछ भी हो न सका। उसके कारण कई हैं, पर सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारा जातीय मन कहीं मर रहा है, गंगा के लिए हम बौद्धिक स्तर पर सोचते हैं और तब ऋण-धन का हिसाब लगाते हैं, गंगा को निर्मल बनाने की बात सोचते हैं मानो गंगा केवल भौतिक पदार्थ हो, इतने बड़े देश की हजार-हजार वर्षों की साधना, तपस्या और भावना के सूक्ष्म कणों से बनी हुई गंगा की सूक्ष्म शक्ति का जैसे कोई महत्व न हो। हम अपने मन को निर्मल बनाने की बात नहीं सोचते कि कहीं नदियों, पर्वतों, वनों, निर्झरों के प्रति हमारा भाव कुछ गंदला हो गया है, हम इन्हें अपनी ऊर्जा के स्रोत के रूप में या अपनी निरन्तरता, अपनी ऊर्ध्वगामिता और अपनी समष्टि चेतना का साकार प्रखर न मानकर इन्हें सम्पदा के रूप में, उपभोग्य वस्तु के रूप में, विहार-साधन के रूप में देखने लगे हैं। ऐसा ही मन हिसाब लगाता है कि गंगा में दूषित जल रासायनिक प्रक्रिया से शुद्ध किया जाय और उसका कचरा औद्योगिक उपयोग में लाया जाय, जिससे कचरा भी एक कमाऊ उद्योग बन जाये। यह सोच बहुत ही खतरनाक है, क्योंकि तब फिर गंगा की चिन्ता भूल जायेगी, बस कचरे के उत्पादन की चिन्ता प्रमुख हो जायेगी। यह सब हम इसीलिए सोचते हैं कि हम बुद्धिवादी जाल में फँसे हुए हैं कि गंगा एक नदी है, जड़ पदार्थ है, संयोग से उसमें हिमालय की औषधियों की जड़ों का कुछ रस जाता है, कुछ और रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं, उसकी धारा में आत्मशोध शक्ति अनुपात में दूसरी नदियों से ज्यादा है। वह सिंचाई का साधन है और पुरातत्व का ही प्रमाण ले कम से कम 8000 वर्षों से वह बहुत बड़े भू-भाग की उर्वरता बनाये हुए है, अपने जल से, अपनी मिट्टी से। हम इतना ही सोच सकते है कि इस सम्पदा के दोहन पर हम कुछ नियंत्रण करें जिससे अधिक समय तक यह संपदा हमारे उपभोग के लिए सुलभ हो। पर्यावरण के बारे में यह दृष्टि भी उपभोगवादी दृष्टि ही है। इसी दृष्टि का विस्तार हुआ कि बड़े-बड़े बाँध बने, स्थान-स्थान पर बड़ी-बड़ी नहरें बनाई गईं। गंगा की धारा क्षीण हुई और गंगा में बहने वाले जल की मात्रा कम हुई, उसकी दूसरी नदियों को अपने साथ बहा ले जाने की क्षमता कम हुई। बहाव की तेजी से अपने को निरंतर शुचि कर लेने की ऊर्जा भी कम हुई। इसी का दूसरा विस्तार था कि गंगा की धारा एक दिन टूट गई। कुछ लोग अनशन पर बैठे, पर बड़ी योजनाओं में बड़े दिमाग होते हैं। बडे बटाटोप होते हैं, भविष्य के बड़े-बड़े सपने होते हैं और उन सबके पीछे कुछ बडे निहित स्वार्थ कुछ बड़े कारस्तान लोगों के होते हैं। कुछ हुआ नहीं। एक दिन गगा निरतर नहीं बहीं ' और दुख की बात यह है कि कोई लेशमात्र हलचल भी कहीं नहीं हुई जैसे भारत की आस्था अभिशप्त अहिल्या की तरह पत्थर हो गई हो

यह दूसरी बात है कि अभी भी सामान्य आदमी, जिसे ये सब सूचनाएँ नहीं मिलतीं, मिलती भी हैं तो इसके ब्यौरे नहीं मिलते। गंगा में पैर रखने के पहले, जल माथे लगाता है, बड़े ही विनम्र समर्पित भाव से जल में प्रवेश करता है, केलि के लिए नहीं, निमज्जन के लिए, अपने शरीर का मल छुड़ाने के लिए नहीं, स्नान के सुख के लिए नहीं, मन की पवित्रता के लिए, ऐसी पवित्रता के लिए, जिसमें सबका हित अपना हित होता है, "सुरसरि सम सब कर हित होहू।"

ऐसी पवित्रता से एकाकार होना ही गंगा-स्नान का लक्ष्य है। गंगा के पास आदमी जाता है अपनी आपूर्ति पाने के लिए, गंगा सब अधूरापन अपने बहाव से पूरा कर देती है, गंगा एक अनवच्छिन्न आहुति का आमंत्रण है, यह जीवन लोक के लिए अर्पित होने के लिए है, इसी में अधूरे जीवन की पूर्ति है, यही सबसे बड़ा साकल्य है।

ऐसा मन जीवन के अन्तिम क्षण में द्विजेन्द्र लाल राय की तरह सोचता है कि उस क्षण में माँ तुम्हारे जल का कलरव कानों को भरे, तुम्हारे जल के छींटे रोमांच बन जायें, तुम्हारा जल आँखों का जुड़ाव बन जाये, तुम्हारे स्पर्श से पुलकित हवा मेरे प्राणों की प्राण बन जाये, बस वह क्षण जीवन का साकल्य बन जायेगा। ऐसा मन दुर्भाग्य से मेरा भी है और असंख्य ऐसे लोगों का है जिनके पास तथाकथित समझदारी की भाषा नहीं है।

ऐसे ही मन से कुछ प्रश्न उठाना चाहता हूँ, इनका उत्तर हमें चाहिए ही चाहिए। पहला प्रश्न यह है कि गंगा की मुख्य धारा इसलिए है कि उसमें सवहन-क्षमता है (कैरिइंग पावर), यह क्षमता कम करने का अधिकार किसी को नहीं होना चाहिए, अतः जितना जलसंचार मिलता रहा है, उतना लोगों को मिलते रहना चाहिए, पर ऐसा नहीं हो रहा है। विगत बीस वर्षों में गंगा का जलसचार प्रयाग, काशी जैसे स्थानों में काफी घटता जा रहा है। इस तटवासियों के जलाधिकार को कौन सुरक्षित करेगा? क्या इसके लिए सार्वजनिक हित का मुद्दा सर्वोच्च न्यायालय में नहीं उठाया जाना चाहिए?

दूसरा प्रश्न यह है कि औद्योगिक कचरा डालने वाले उपक्रमों पर कार्रवाई मे शिथिलता क्यों है, पर्यावरण कानून इतना कड़ा क्यों नहीं है कि इसका उल्लघन गभीर सार्वजनिक अपराध माना जाये। उद्योगपतियों की अभिसन्धि का ही फल है कि कागज की आवश्यकता की वृद्धि के नाम पर रसशोषक पेड़ों की बढ़ती हो रही है जो पृथ्वी को कुछ देते नहीं और उल्टे भूगर्भ का जल खींच लेते हैं और कागज बनाने के लिए उपयुक्त रसायनों के कचरों से नदियाँ दूषित हो रही हैं, तापी, सोन, नर्मदा का जल देखा नहीं जाता इन्हीं उद्योगपतियों की लाभलोलुपता के कारण

रासायनिक कचरे के निस्तारण की केवल कागजी कार्रवाई होती है, कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया गया है। इस समस्या के समाधान के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने नोटिस जारी किये हैं, पर अभी तक कोई प्रतिफल दिखायी नही पड़ा है।

तीसरा प्रश्न महानगरों की दूषित मल-प्रणालियों के निस्तारण से सम्बद्ध है। वाराणसी में कहा गया है कि मलजल को अन्यत्र ले जाकर संशोधित किया जायेगा, पर अन्तरिम काल में पंप से नालियों का जल निकालकर ऊपर फेंका जायेगा, नदी में जाने से रोका जायेगा। वास्तविकता यह है कि न तो पंप बारहो महीने काम करते हैं, न दूषित जल का गिरना रुका है। एक समय था कि काशी के भीतर निपटते तक नहीं थे, अशुचि वस्त्र पहनकर जल में प्रवेश नहीं करते थे, गगा के किनारे कहीं भी साबुन लगाने वाले दिखते थे तो उनकी बड़ी फजीहत होती थी। आज घाट सभी धोबीघाट हो गये हैं और महानगरों के सीमा से अधिक विस्तार से पुरानी दूषित जलप्रणालियाँ अवरुद्ध होने लगी हैं, इतना प्रदूषण का सचार है और जल का संचार निरन्तर क्षीणमाण है। नदी की गहराई पेड़ों के कटने से, सिल्ट (बालू) के भराव से कम होती जा रही है, जंगलों के नाश से हिमालय की वनौषधियों के सर्वनाश के कारण औषधियों का रस भी नहीं मिल रहा है। हम यह अनुभव नहीं कर पा रहे हैं कि कैसी घुटन में है हमारी जातीय जीवन धारा। हम सतही उपाय कर रहे हैं, उसमें भी विलम्ब लगा रहे हैं। अकेले शासन के भरोसे कैसे रहा जाये! शासन के लिए गंगा की समग्रता का कोई महत्व नहीं है, वह सास्कृतिक स्मृति मात्र है। वह जीवन की प्रत्यक्ष अपरिहार्यता नहीं है। होगी भी नहीं जब तक शासन को चुनने वाला सचेत नहीं है।

गांधीजी की राजनीति के उत्तराधिकारियों को तो अपनी पूरी आर्थिक-सांस्कृतिक नीति ही ऐसी रखनी चाहिए थी जो यूरोप की ग्रीन पार्टियों के समकक्ष होती, पर अब उपभोक्ता अपसंस्कृति के इस तरह फैल जाने के बाद आवश्यकता है कि एक ग्रीन पार्टी जैसी भारतीय आवश्यकताओं और भावनाओं के अनुरूप पार्टी बने, जो सत्तासीन होने के लिए नहीं, सत्तासीनों की बड़ी सजगता से खबर लेने के उद्देश्य से बने और सम्पूर्ण जीवन की सुरक्षा का नारा उठाए, अलग-अलग टुकड़ो मे अभयारण्य न बनाए, इस समय सम्पूर्ण जीवन विनाश के भय से ग्रस्त है, केवल गगा ही नहीं, यह भाव आने वाली राजनीतिक चेतना में उत्पन्न करना जरूरी हो गया है। तभी कुछ कारगर कदम सरकारें उठायेंगी और लोग उठायेंगे।

बरु ये बदरा बरिसन आये

आषाढ़ बीत रहा है, देश में पावस आ गया है, इसकी सूचना भी मिल गयी है, पर पावस का आना देखने और अनुभव करने की बात है। दूर से समाचार सुनने में क्या रखा है। पावस के नाम से आज भी रोमांच होता है। यकायक इतने बादलों का उमड़-घुमड़ आना, धौरे हाशिया वाले कजरारे बादलों का ऐसे छा जाना, जैसे ज्वार में आया हुआ सागर सिर पर आ गया हो, बीच-बीच में बिजली का रंगशाला में उतरकर थिरकते-थिरकते लुप से तिरोहित हो जाना, घने अन्धकार में यकायक बहुत दूर तक दिखा जाना और फिर अँधेरा और गहरा कर जाना, इतने में वर्षा का संगीत शुरू हो जाना, तपी धरती से उसाँस निकलना, उसके साथ सोंधी गंध का उठना, वर्षा की बूँदों से खिंचकर धरती से इन्द्र वधूटी का कुतूहलवश बाहर आ जाना, दूर-दूर तक वर्षा की झंकार सुनायी पड़ना और उसके साथ मेंढकों का आलाप शुरू हो जाना, मोर का मगन हो जाना, मनोहर स्वर में पुकारना, आओ सखी, घनश्याम आ गये, एक साथ कितनी स्मृतियों की एक दूसरी घनघटा छा जाना, 'नहिं आये घनश्याम, घेरि आइ बदरी', 'बरु ये बदरा बरिसन आये', 'गगन घहराइ जुरी घटा कारी', 'कहँवा से आवेला नान्ही के मिलनिया पड़ेला झनकार बुँदिया'। कहाँ ये बालपन का साथी आ रहा है, झंकार करती हुई बूँदें टपाटप गिर रही हैं। 'गगन महल झरि लागी' (शून्य के महल में झड़ी लगी है, बाहर निकलो अपनी खोली से), 'गिर रहा है आज पानी याद आता है भवानी' (भवानी प्रसाद मिश्र की कविता, 'जेल में बरसात'), गाँव में पड़े झूले और हार पर रुक-रुककर उठने वाली कजलियों की तान, कालिदास का पूरा का पूरा मेघदूत और जयदेव के वासन्ती काव्य का मंगल, जो वर्षा की घनी अँधेरी रात से शुरू होता है और घनश्याम को सौदामिनी से भी अधिक भास्वर राधा की ज्योति से उन्हें अपनी पहचान करा देता है एक साथ कितनी घटनाएं इनका भी याद नहीं

रहता, सब ऐसे हो जाता है जैसे अनन्त काल और देश को उड़ेल दिया गया हे, धरती के आँचर में। अपने देश के पावस की अगवानी नहीं की तो लगता है वर्ष व्यर्थ गया। मैं एक बार दो साल लगातार उद्दाम प्रशान्त महासागर के पास के नगर मे तरसता रह गया कि कभी बादल गरजे, कभी 'बिजुरी' चमके, कभी झंकार (बूँदे) सुनायी पड़े, कभी रास्ते जलधारा बन जायें, कभी एक बार अच्छी तरह भीगना हो जाय, छाता, बरसाती सब बेकार हो जायें। बरसों पहले इसी आषाढ़ की पूर्णिमा के आसपास मथुरा गया था, शाम को एक हॉल में संगीत का कार्यक्रम था, उस समय चन्दन चौबे के उत्तराधिकारी बालजी बाबा मथुरा की गायकी सँभाले हुए थे, मैंने उनसे कहा, "बड़ी तपिश है, मल्हार गाइए", उन्होंने सूर का पद उठाया, "कुंजन तें दोउ भींगत आवत", भयंकर गर्मी, पंखे आग बरसा रहे थे, पर मल्हार का आलाप उठा, बालजी बाबा डूबते गये, वे संगीत में साहित्य को तिरोहित नही होने देते थे। इसलिए शब्द भी बहुत साफ-साफ उतर रहे थे या ठीक कहें तैर रहे थे। पद में बाद में आता है, कन्हैया ने अपनी कामरी (कम्बली) राधा को उढानी चाही, राधा न भीगें, राधा ने अपनी नीली ओढ़नी कन्हैया को उढ़ानी चाही, कन्हेया न भीगें और एक-दूसरे को बचाने में दोनों भीग गये। भीगे ही कुंजो से लोट रहे हैं। क्या शोभा है! इतने में बादल जाने कहाँ से उठ आये और घनघोर वर्षा की मल्हार सुनायी पड़ने लगी। संगीत सुना, मल्हार राग सुना, पर दो-दो मल्हारों का साथ-साथ संगीत एक ही बार देखा, एक ही बार सुना। वर्षा में कई बार भीगा हूँ, एकदम सराबोर हो गया हूँ, कपड़े निचोड़ने पड़े हैं, निचोड़कर फिर भीगा हूँ, पर वैसा भीगना भी नहीं हुआ, पानी की बौछार से नहीं, मल्हार की वर्षा से और सूर की भीगी कथा से भीगना तो जीवन में कहाँ बार-बार मिलता है।

पावस के मध्य में ही हमें स्वतंत्रता मिली। पावस के मध्य में ही कन्हैया अवतरे, पावस के मध्य सरीखे कैदखाने में स्वतन्त्रता के स्वर गूँजे। पावस बडी प्रतीक्षा कराता है, बहुत तरसाता है, बहुत तपाता है, बहुत झुलसाता है, स्वाधीनता ने भी बड़ा सताया, बड़ा तपाया, बड़ा तरसाया, इतना कि हम अधीर हो गये, हमने स्वाधीनता अपनी शर्तो पर लेने की शपथ ली थी, पर अपनी शर्त कहाँ रही? हमने विदेशी शासक को अपना पहला गवर्नर बनाया जिससे ठगे गये, उसी के हाथ अपनी नकेल सौंपकर हमें कैसा स्वाधीनता का पावस मिला? बड़ा उल्लासमय, बडा विषादमय, 15 अगस्त 1947 को मुझे याद है कि ताँगेवाला गाता जा रहा था, "घर में चिराग क्या जला, घर को जला गया।" तब भी स्वाधीनता पर बड़ा भरोसा हमने किया हमने खुशी मनायी उलाहने दिये चेतावनी दी और हम गांधीजी की उदासी में उबलते भी रहे हमने सोचा कैद से बाहर निकलना और स्वाधीनता का

मन बनाना आसान नहीं है, पर हम बरसा आशा करते रहे, हमारी स्वाधीनता फलेगी-फूलेगी, पर कैसे-कैसे फल आये! हमने अपने को प्रस्तुत किया, हमें मथो, हमारी धरती को मथो, पर पहले विष निकला, फिर वासना निकली और हमारे मन्थन करने वाले एक से घबराकर दूसरी में खोकर निश्चिंत बैठ गये।

मुझे स्मरण है, मुझसे पूछा गया था कि हिन्दी का कवि-लेखक सरकार से इतना नाराज क्यों है? मैंने एक टिप्पणी तैयार की थी, कहीं स्व. भाई वात्स्यायनजी के संग्रह में उसकी एक प्रति होगी। मैंने तो कठिन समय में अपने को दाँव पर लगाकर यही कहा कि यह लेखक का धर्म है कि वह असहमति को वाणी दे, जिससे जनतंत्र जीवन्त बना रहे। वह प्राणहीन न हो जाये, वह निष्क्रिय और अविश्वसनीय न हो। असहमति विरोध नहीं है, असहमति व्यवस्था का निदान है। व्यवस्था का उन्मूलन नहीं है। कुछ उसका असर हुआ, बातचीत करने के लिए मन बना, पर फिर ऐसी आँधी उठी कि विवेक खो गया और असहमति जाड़े की रात की कुररी का विलाप बनकर रह गयी।

पावस आता है तो बचपन का, जवानी का वह हुलास तो लौटता ही है, वह विषाद भी लौट आता है जिसकी छाया में तीन-तीन दशक बीत गये। अपने देश के चतुर्दिक विकास को छोटा करके कभी नहीं देखता, पर देश का वह मन खोजना चाहता हूँ, जो पूरा शीलवान होता हुआ बराबर तना रहता है। फकीरी ठाठ में भी राजा बना रहता है, दुःख को हँसते हुए झेलता रहता है। वह मन कहीं साकार नही दिखायी देता, वह कहीं है तो दबा हुआ है, आल्हा की ढोलक की थाप की तरह जो केवल आकाशवाणी केन्द्रों में निमंत्रित होकर कभी-कभी बज जाती है, कही गाँव का गाँव उसके लिए उमड़ता नहीं दिखायी पड़ता। उस मन की याद आती है कि हिन्दी के कवियों की पानीदार वाग्धारा याद आती है, स्व. दादा (माखनलाल चतुर्वेदी), स्व. दद्दा (मैथिलीशरण गुप्त), स्व. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', स्व. सियाराम शरण गुप्त, स्व. रामधारी सिंह दिनकर, स्व. भाई (स्वाधीनता के मूल्य के आनन्द माधव), स्व. भवानी भाई—ये सब याद आते हैं तो मन सावन हो जाता है। विषाद एक घड़ी के लिए धुल जाता है, पर नकली जीवन जीने के लिए ऐसी कलौंस लगी हुई है कि जाने कैसे फिर वही दिखने लगती है। अपनी शुभ्र सहज बेलौस जीवन जीने की परम्परा शरमाकर छिप जाती है। क्या नकली जिन्दगी जीने की, पराये आस्वाद को चखकर उसे सराहने की विवशता ही स्वाधीनता थी? क्या इतना कुछ अत्याचार सहना, इतना झेलना पराधीनता के दुःख—सब बेमानी था। पावस से ही पूछना चाहता हूँ। कैसे पावस हो, कैसे प्रावृट् हो, घेर-घेरकर कैसे मूसलाधार बरसने वाले हो कि नदियाँ क्षीणतर होती जा रही हैं? पूरा विन्ध्य का पठार जो तुमसे

श्यामल हो उठता था, धूसर हो रहा है, हमारी प्यास बुझाने (या ठीक कहें बढ़ाते रहने के लिए) कोकाकोला का साम्राज्य छा रहा है, कैसे हो मेरे यार कि तुमने हमारी सचाइयों को बिसरा दिया, उन्हें कपोल कल्पना बना दिया। जाने कहाँ-कहाँ से आयातित झूठों को सच का बाना पहना दिया? कन्हैया की बाँसुरी, राम का धनुष, सीता की रसोई, राधा का जमाया दही, सब झूठ और यह बेसुरा राग, यह दूसरे का दिया कवच, यह रूखा भोजन, यह फीका आस्वाद ये ही सच हो गये? कैसा मृदंग बजाया है तुमने कि सब दिन में ही ऊँघने लगे और दिवास्वप्नों में विहँसने लगे? पावस से पूछना चाहता हूँ, बादल आये, अपना नियत समय जानकर आये, पर पराधीनता को तोड़कर बाहर आने वाले घनश्याम के साथ तुम कहाँ विलम गये? किस अलका में फँस गये, किस यक्षिणी के घने केशपाश में उलझ गये? कुछ देर ठहरो, मेरी बात सुनो, जवाब दो, जवाब न दे सको तो एक बार उस सूरज से पूछो, जिसने तुम्हें बूँद-बूँद सागर से उठाया है, उस बयार से पूछो जिसने तुम्हें लहराया है, उस मुक्त आकाश से पूछो जिसने तुम्हें बुलवाया है, उस धरती से पूछो जिसने तुम्हें प्यार से न्यौता है, तुम्हें उत्तर मिल जायेगा।

भारत तीर्थ

गर्मिया आई, उत्तराखंड की ओर तीर्थयात्रियों के पैर चल पड़े। कुछ वैष्णव देवी की ओर, कुछ ज्वाला देवी की ओर, पर सबसे बड़ी भीड़ गंगोत्तरी, जमुनोत्तरी, बदरी-केदार की ओर। थोड़े-से लोग जागेश्वर, वैद्यनाथ और नन्दा देवी की ओर। तयशुदा संख्या में टोली सरकारी देख-रेख में या अपनी विशेष व्यवस्था में कैलाश की ओर। तीर्थ का इतना आकर्षण क्या दिखावा है? किसी तीर्थयात्रा पर ऐसा ही प्रश्न युधिष्ठिर के सामने आया। उन्हें वनवास मिला तो उन्होंने तीर्थयात्रा से उस वनवास को सार्थक करना चाहा। उसके पहले राम ने एक मुनि के आश्रम से दूसरे मुनि के आश्रम की यात्रा की और अपनी यात्रा से ही उन्होंने अनेक तीर्थ बना दिये। युधिष्ठिर के सामने प्रश्न आया था, "सभी नदियाँ सरस्वती हैं, सभी पहाड़ पुण्य हैं, आत्मा ही तीर्थ है, इधर-उधर घूमने की और तमाम देशों का अतिथि बनने की आवश्यकता क्या है?" वामन पुराण मे कहा गया है कि आत्मा ही नदी है, उसमें संयम का जल है, सत्य ही धारा है, शील ही तट है, दया ही लहर है—इसी में स्नान करें, इसी से शुद्ध होंगे, जल से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती। मध्य युग में भी कठौती में गंगा आयीं, कबीर ने इन यात्राओं को अर्थहीन बताया पर विचित्र विडम्बना यह कि कबीर का जन्म-स्थान तीर्थ, कर्म-स्थान तीर्थ, निर्वाण-स्थान भी तीर्थ हो गया। बुद्ध के साथ भी यही हुआ। तीर्थ क्या कर्मकाण्ड है? क्या वह अपने को विशाल में खोने की तैयारी नहीं है? मैं भारत के कोने-कोने में गया हूँ और कोने-कोने में मुझे कुछ तीर्थ मिले जहाँ क्षेत्र-विशेष के लोग आते हैं। एक-दो अभिशप्त नदियों को छोड़कर कोई नदी नहीं मिली जिसमें तीर्थ न हो, जिसने अनेक तीर्थ न बनाये हों, कोई शिखर नहीं मिला, छोटी-सी टौरिया भी नहीं मिली जहाँ किसी देवी का स्थान न बन गया हो। वहाँ मूर्ति भले ही न हो पर कोई न कोई हाथी या घोड़ा सवारी करने वाले देवता की उपस्थिति जताता है। कहीं केवल

दूह हैं। वैष्णव देवी में तीन पिण्डियाँ हैं। पहाड़ों की हिममण्डित चोटियाँ हैं, जहाँ धूप तरह-तरह के खेल रचती है—ये सभी तीर्थ हैं। समुद्र में मिलने वाली नदियों के संगम हैं, वैसे भी समुद्र तट हैं, तमाम वन-खण्डियाँ हैं, वन-खण्डियों के भीतर कही टँगी हुई लाल पताका है, कहीं किसी गिरि देवता के कुछ आकार-प्रतीक है—ये सभी स्थान तीर्थ हैं, क्योंकि पहाड़ियाँ दुर्गम, नदी दुर्गम, वन दुर्गम, सागर अथाह, पर पार जाने के संकल्प ने राह बनायी है। राह ही तीर्थ है। कष्ट सहकर राह बनायी है, तपकर राह बनायी है, श्रम कर राह बनायी है—वही तीर्थ है। तीर्थ का अर्थ है पार जाने की जगह। इतना जरूर है कि तीर्थ जाना पिकनिक पर जाना नही है। निछद्‌म में मौज-मस्ती के लिए जाना नहीं है। तपने जाना है या गलने जाना है। और उससे भी अधिक अपने छोटे से दायरे को तपाने और गलाने जाना है। वह दायरा धन का हो, पद का हो, प्रतिष्ठा का हो, विद्या का हो, रूप का हो, बल का हो, यश का हो, जाति का हो, मजहब का हो—उसको आदमी कहलाने के लिए तपाने-गलाने को तैयार न हो तो वह तीर्थयात्री नहीं पर्यटक है। पर्यटक की आँखों को भोजन चाहिए, साँसों को भोजन चाहिए। तीर्थयात्री की इन्द्रियाँ बराबर पीछे रह जाती हैं, उसकी दूसरी आकांक्षाएँ आगे दौड़ती चली जाती हैं। अस्सी-पिचासी की बुढ़िया भी जय बद्रीनाथ, जय केदारनाथ बोलती लाठी के सहारे चढ़ती चली जाती है, इस प्रत्याशा में कि कुछ घटने वाला है, अपने साथ, अपने ऊपर, अपना कुछ नया रूपान्तर होने वाला है।

मंदाकिनी के तट पर पहुँचते ही केदार पर्वत सिर पर आ जाता है और मन्दिर, लगता है, कंधे पर खड़ा है। बद्रीनाथ से काफी दूर से ही नर-नारायण पर्वत दिखने लगते हैं। बस के हिचकोलों पर ध्यान नहीं जाता, उन जोड़ी पर्वतों पर ही ध्यान जाता है। बद्रीनाथ से भी ऊपर माना गाँव से चलते हैं वहाँ व्यास गुफा है, आगे सरस्वती नदी पर भीमपुल है। भीम ने ही उस नदी पर बड़ा-सा पत्थर डाल दिया है, पुल बन गया है। उस पुल के पार सप्तधारा है, तपोवन है और आगे स्वर्गारोहण है। युधिष्ठिर का स्वर्गारोहण तीर्थयात्रा का अन्तिम सोपान है।

अयोध्या की ओर अपार भीड़ जाती है। सावन, भादों और कातिक मे ब्रजमण्डल की ओर, जाड़ों में तीर्थयात्री माघ-स्नान के लिए त्रिवेणी की ओर करोडो की संख्या में चलते हैं, मकर संक्रान्ति के अवसर पर गंगासागर जाते हैं, सावन मे ओर चैत की रामनवमी के आस-पास भीड़ जाती है। कुआर, पूस और चैत मे पिडदान के लिए गया की ओर भीड़ जाती है। जाड़ों में चारों धाम की यात्रा के लिए तीर्थ रेलगाड़ियाँ निकलती हैं जो जगन्नाथ, रामेश्वर, कन्याकुमारी होते हुए मुम्बई जाती हैं वहाँ से द्वारिका द्वारिका से सोमनाथ सोमनाथ से राजस्थान मे

एकलिंग और नाथद्वारा, कुरुक्षेत्र। वहाँ से मथुरा, अयोध्या होते हुए काशी लौटती हैं। यह भारत-परिक्रमा किस पहचान के लिए होती है? क्या राष्ट्रीयता की पहचान के लिए? या मनुष्य के, नर के भीतर नारायण की सहवर्तिता, सहचारिता की पहचान के लिए होती है? ये तीर्थयात्री राष्ट्रीय एकता के सूत्र नहीं ढूँढ़ने चलते, ये राष्ट्र को जगाने भी नहीं चलते, भारत-दर्शन के लिए भी नहीं चलते, ये केवल अपने भीतर सोये हुए उस सामान्य भाव के लिए चलते हैं जो सब कुछ के बावजूद, सारे आवरणों के बावजूद रहता है। इसीलिए तीर्थ में एकत्र व्यक्ति एक-दूसरे का परिचय पूछने की आवश्यकता नहीं समझते। गंगा में डुबकी लगाने वाले लोग पास वाले की जाति-पाँति नहीं पूछते। हैसियत का कोई हिसाब नहीं पूछता। हैसियत ही यहाँ पर नंगे पाँव चलने वालों से—चाहे वह ठंडी बालू पर चल रहा हो चाहे गरम रेत पर, चाहे कँटीली पथरीली राह पर, चाहे चढ़ाई पर, चाहे ढलान पर—अपना स्थान पूछती है कि मैं कहाँ हूँ।

इन तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए कोई कुछ क्या करेगा! सरकारें भी जो करती हैं बस रस्म-अदायगी करती हैं। उनका पर्यटन विभाग कुछ करने की सोचता है तो धर्मशालाओं को अतिथि-भवन बनाने की बात के रूप में सोचता है। सामान्य को विशेष बनाए बगैर पर्यटन का काम चलता ही नहीं है। लोक के हित की चिन्ता तो केवल नारों में है अथवा संविधान में, या सड़कों के निर्माण वाले विभाग में। लोक चारों ओर से खदेड़ करके या तो रेडियो को सौंप दिया गया है या फिल्मी गानों को। सौंप क्या दिया गया है उसे एक तरह से वहीं पर, भोजपुरी शब्द का प्रयोग किया जाय तो ठठरिया दिया गया है, काँजी हाउस के बाड़े में बन्द कर दिया गया है। यह जरूर है कि वहाँ खूँटा नहीं है और साथ ही चारा भी नहीं है, पर लोक है कि दूब की तरह बेहयाई कर रहा है, छँट रहा है फिर भी, झुलसते-झुलसते भी जिए जा रहा है। तीर्थयात्रा इसी लोक की होती है। लोक के भीतर रहने वाले लोकोत्तर की पहचान के लिए। वह लोकोत्तर और कुछ नहीं, लोक का सहज स्वभाव है। अछोर विशालता, जरा-सा छूते ही ढुलक जाने की प्रवृत्ति, तीव्र संवेदनशीलता और वज्र सहने की शक्ति। तीर्थयात्रा इन सबकी पहचान है। और सबसे अधिक पहचान है सहज विश्वास की। ठगे जाने पर भी लोग सहज विश्वास नहीं खोते। पहाड़ों में तीर्थयात्रियों का अनुभव यह था कि कहीं कोई किसी की चीज उठाता नहीं। इसी सहज विश्वास के कारण यात्री सहज विश्वास कर लेते है कि एक भतीजा बनकर आता है और कहता है कि मैं सामान रखता हूँ, नहाकर आता हूँ देखते रहियेगा। वह आता है तो आत्मीयता इतनी बढ़ी रहती है कि पूछने पर कि तुम्हें पहचान नहीं रहा हूँ, कहता है कि मैं आपके पीछे पैदा हुआ, आप गाँव

के नाते मेरे फूफा हैं। फूफा सामान छोड़ नहाने जाता है, आता है तो सब गायब। और वह चिल्लाता फिरता है कि मैं किसका फूफा हूँ। ऐसे असंख्य लोग उपहासनीय बनते हैं, पर विश्वास करने की टेव नहीं छोड़ना चाहते। मेरे बाबा के समय के लोग उत्तराखण्ड की यात्रा के लिए पैदल जाते थे और घर से सदा के लिए विदा होकर जाते थे, लौटना हो, न हो। बड़ी कठिन यात्रा थी पर यह यात्रा घर छोड़ने की यात्रा नहीं थी, घरों के घर में प्रवेश की यात्रा थी, वह ऊर्जा के ग्रहण की तैयारी थी। वर्षा का जल पड़ने के लिए पात्र साफ किया जाता है, खाली किया जाता है। तीर्थयात्रा ऐसा ही निरेचन है। जब पूरे भारत के साथ यह भाव जुड़ा हुआ दिख जाता है तो भारत कोई राजनैतिक भौगोलिक इकाई नहीं रह जाता वह भावात्मक सत्ता बन जाता है। तीर्थयात्रा भारत की भावात्मक सत्ता की असली पहचान है।

एक यज्ञ यह भी

अमेरिका को हमारे कुछ पुराने लोग पाताल लोक मानते है। पाताल के वैभव की अनेक कहानियाँ पुराणों में और लोक वार्ता में मिलती हैं। सबसे प्रसिद्ध कहानी है बलि राजा की, जिसके वैभव से इन्द्र तक घबरा गये और विराट पुरुष भगवान विष्णु को वामन बनकर (छोटा बनकर) वहाँ भीख माँगने जाना पड़ा। बलि राजा ने भीख में पूरा त्रिभुवन का ऐश्वर्य दे दिया, अपनी पीठ तक नपा दी, पर एक शर्त रख दी कि वामन भगवान हमारे द्वार पर भिखारी बने खड़े रहेंगे। आज तक बेचारे वहीं खड़े हैं, प्रतीक्षा कर रहे हैं कि बलि के भी इन्द्र बनने की बारी आये, हमको यहाँ से मुक्ति मिले।

जब-जब मैं इस पाताल लोक में आता हूँ तो बलि राजा का नया-नया चमत्कार दिखायी पड़ता है, पर लक्ष्मीपति द्वार पर वैसे ही अविचल खड़े मिलते हैं। पहले तो बलि राजा को कुछ न कुछ आशंका रहती थी, अब आशंका है तो अपने भीतर के लोगों से, पहले वह तरह-तरह के धौंस दिखाते थे और ऊपर से बड़े शालीन भी बने रहते थे, अब भीतर से घबराने लगे हैं। जिस खुलेपन की डौंड़ी उन्होंने पहले पीटी, वह अब गले की फाँस बन रहा है। खुलेपन के नाम पर ऐसा बहुरंगी समाज यहाँ बस गया है कि न उसे निगलते बनता है, न उगलते बनता है। घर के भीतर कौन पहले कौन बाद में, इसका कौवारोर मचा रहता है। इसलिए परेशान रहते हैं, पर अभी संसार के ठौर पैर तोड़कर यहीं विराजमान हैं, इसलिए बलिराजा उनके ऊपर हुकुम भी चलाते रहते हैं।

इस पाताल लोक में मैंने इस बार देखा एक और लोक बस गया है, उसका नाम पटेल लोक है, कोई बीसेक वर्षों में यही लोक बसा है, एक लम्बे गलियारे कारीडॉर) के रूप में, प्रशान्त महासागर के तट से सुदूर पूर्व अटलांटिक महासागर के तट तक एक लम्बी शृंखला मोटेलों की है।

मोटर पर लम्बी यात्राओं का क्रम शुरू हुआ, रेलयात्रा सिकुड़ती गयी, अधिकतर माल ढोने का काम करने लगीं, मोटर का युग आया। अब मोटर की यात्रा में विश्राम की जगह चाहिए, जो रास्ते पर हो, भीतर न जाना पड़े। इसलिए विश्राम के लिए यह संस्था बनी। जब इन मोटेलों का प्रबंध हमारे पटेल भाइयों के हाथ में आ गया तो लोग अब हँसी-हँसी में इन्हें पोटेल कहने लगे हैं, हो सकता है अगले तीन-चार वर्षों में यह शब्द वेब्स्टर की डिक्शनरी में आ ही जाये। इस पोटेल गलियारे में गुजराती के माध्यम से बखूबी काम चल जाता है। इस बार सयोगवश ऐसे ही एक पोटेल का, बिना मोटर यात्रा किये, मेहमान बनने का अवसर आ गया। वह अवसर था संस्कृति यज्ञ का आयोजन जो भारतीय संस्कृति शोध संस्थान की सहायता के लिए न्यू जर्सी के एक छोटे से नगर विलों मे आयोजित था। इसके एक दिन पहले एक दूसरे पटेल भाई के उद्योग से आयोजित शिकागो के उपनगर में ऐसे ही यज्ञ में दर्शक बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इन दोनों यज्ञों के अनुभव अपूर्व थे। इन यज्ञों में लगभग चार हजार से पॉच हजार के बीच लोग उपस्थित थे। वनिताएँ कुछ अधिक ही, शायद गहनों और साड़ियों की नुमाइश में वे ही पूरे यज्ञ पर छायी हुई थीं। यज्ञ का अनुष्ठान तो बहुत सूक्ष्म घंटे सवा घंटे का था, पर उसके आगे-पीछे का भजनों, उपदेशों, भाषणो और जय-जयकारों का सिलसिला लगभग तीन-साढ़े तीन घंटे का था। पहला यज्ञ बहुत बड़े शामियाने के नीचे मैदान में हुआ। दूसरा बहुत विशाल हॉल में। दोनो जगह अग्निशामक दस्ते तैनात थे, क्योंकि मुख्य हवनकुंड के अलावा ढाई सौ के लगभग छोटे-छोटे हवन-पात्र थे, जिनमें हवन-सामग्री झोंकी जा रही थी। इन यज्ञो में साझेदारी बड़ी सहज और उत्साहपूर्ण थी।

शिकागो के उपनगर वाले यज्ञ में तो यजमान पटेल बन्धु की चारों फैक्ट्रियो मे छुट्टी कर दी गयी थी। भीड़ ऐसी उमड़ी थी कि विश्वास ही नहीं हो रहा था कि हम गुजरात के बाहर कहीं हैं। अधिकतर व्याख्यान भी गुजराती में हो रहे थे। बीच-बीच में अंग्रेजी और हिन्दी का छिड़काव होता रहता था। हमारे गुजराती भाई व्यवसाय, बुद्धि और श्रद्धाभक्ति दोनों का निर्वाह बड़े प्रेम से एक साथ कर लेते हे। इसलिए गुजराती भाइयों के आसरे हर तरह के सम्प्रदाय जितने फलते-फूलते हे, उतने कहीं दूसरी जगह नहीं। व्यवसाय और भक्ति के लिए गुजरात से बडी उर्वर जमीन कहीं नहीं है। उससे भी वड़ी विशेषता यह है कि यह उर्वरता गुजराती भाई जहाँ जाते हैं वहाँ अपने साथ ले जाते हैं। युगांडा और पूर्वी अफ्रीका के अन्य देशों से विस्थापित गुजराती भाई अमेरिका में, इंग्लैंड में और अन्यत्र भी छा गये। उन्हीं के साथ अनेक आचार्य सन्त प्रवाचक भी छा गये मुझे तो लगता है कि

अमेरिका में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की वांछा जो रखता हो, उसे गुजराती सीखनी ही पड़ेगी, अस्तु, यज्ञों की बात करें।

अमेरिकी पेड़ों की छोटी-छोटी लकडियों का उपयोग किया गया था। मंत्र और पुरोहित आयातित, पर यजमानों में आयातित और अमेरिकी दोनों प्रकार के लोग थे। सबसे मजे की बात यह थी कि किशोर लडके-लड़कियाँ बड़े उत्साह से यज्ञ में भाग ले रहे थे, कौतुकवश नहीं, उन्हें लग रहा था कि विशाल अमेरिकी समाज में इस तरह ऐलानिया ढंग से अपनी अलग पहचान उद्घोषित करने का अपना आनंद है। यज्ञ उनके लिए ऐसी पहचान को ऊँचे स्वर से गुंजरित करने का अवसर है। इस अर्थ में ये यज्ञ सच्चे यज्ञ थे कि इनमें सभी प्रकार के लोगों की साझेदारी थी। इसमें जैन भी थे, प्रणामी समुदाय के लोग भी थे, कई प्रकार के वैष्णव भी थे, स्मार्त भी थे, श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदाय के थे, शैव भी थे, कबीरपंथी भी थे और अपंथी भी थे। ये सभी संस्कृति-यज्ञ का सही अर्थ समझने के लिए मानो आये थे। ऐसे शब्दों को समझाने के लिए ही एक अर्थकोश निर्माण चल रहा है। मैं इस कोश की योजना से कुछ वर्षों से सम्बद्ध हूँ। इसीलिए यद्यपि मेरा कोई उपयोग इन यज्ञों में नहीं था, तथापि मुझे दृष्टा के रूप में आमंत्रित किया गया था।

भारत के बाहर आकर भारतीय क्यों इतना उदार हो जाता है, क्यों इतना एकजुट हो जाता है, क्यों इतना धर्मप्रवण हो जाता है, यह सब समझने-बूझने में मुझे इन यज्ञों से बड़ी प्रेरणा मिली। कहाँ तो भारत में यज्ञ हो रहे हैं, हमारी बात ऊपर हो, हम धरोहरी बनें भारतीय संस्कृति के, हम ठेकेदार बनें हिन्दुओं के, राजनीति में धर्म चले, न चले, धर्म में हमारी राजनीति चले, कहाँ यहाँ भारत से दूर लोग कामकाज छोड़कर पचासो मील से आ-आकर इन छोटे-से धातु के हवन कुंडों में पाव-सवा पाव हवन-सामग्री डालते लोगों को देखने का सुख पा रहे हैं। कहाँ तो भारत में यज्ञ की शुद्धता-अशुद्धता पर बहस चल रही है, और कहाँ तो यहाँ उसी भारत के लोग बेगाने लोगों के बीच स्वयं बिल्कुल शास्त्रीय ज्ञान न रखते हुए यज्ञ कर रहे हैं कि समस्त शास्त्रों और सन्तों के उपदेशों का निचोड़ कहीं तैयार हो जाय। हमारी अगली पीढ़ी हिन्दू धर्म के बारे में सही-सच्ची जानकारी पा सके, इसके लिए इतना समष्टिगत संकल्प लिया जा रहा है। सैक्रामेंटो (कैलीफोर्निया राज्य की राजधानी) से एक गोपाल भाई अपने खर्चे पर शिकागो और न्यू जर्सी दो-दो बार गये, आयोजन में पूरी सहायता की, एक दूसरे भाई हाँसू भाई करोड़ो का व्यवसाय छोड़कर हैरिस बर्ग से शिकागो और न्यू जर्सी में चरखी की तरह पूरे आयोजन में घूमते रहे। लगा उन्हें यज्ञ का नशा हो गया है। वे स्वयं श्रद्धावान है,

वे अपने लिए निश्चिंत हैं, पर अपनी सन्तान के लिए और इसलिए अपने भावी अस्तित्व के प्रति चिंतित हैं। वे व्यावसायिक सफलता के शृंगार के रूप मे ये आयोजन नहीं कर रहे हैं, भले ही इसके कारण उन्हें अपने आप सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिल जाये। और यह बात मुझे बहुत छू गयी।

यह विश्वकोश मुझे पहले ख्याली पुलाव लगता था, पर ऐसा ख्याल भी बुरा नही, इसके कारण इसमें शरीक था, पर इस बार मुझे लगा कि केवल गिलहरियाँ सेतु नहीं बना रही हैं, सामान्य मनुष्य के भीतर का विराट भाव, नारायण भाव, जगदम्ब भाव ऐसा सेतु बनाने का संकल्प ले रहा है, जो केवल उस पार पहुँचाकर हमे वहाँ छोड़े नहीं, उस पार से इस पार भी आने के लिए प्रतिस्मृति दे।

हिन्दू धर्म विश्व को एक घोंसला बनाने की बात करता है तो उसके पीछे भाव यही है कि वह समस्त सृष्टि में घर का-सा अपनाव का भाव भरना चाहता है। ऐसे महाभाव की शुरुआत ऐसे आडम्बरहीन आयोजन से शायद ज्यादा स्वाभाविक तरीके से होगी, ऐसा विश्वास मन में जगता है। यज्ञ का मूल भाव तो सामूहिक सहभागिता है, ऐसी सहभागिता जिसमें व्यष्टि के अभिमान की छँटाई हो जाय।

भारत में यज्ञ के नाम पर सत्ता का अहंकार पल रहा है, यह चिन्ता का विषय इसलिए है कि एक ऐसी संस्था के प्रति आस्थाभाव घटने की आशंका हे, जो विश्वमात्र को समरसता और सामंजस्य के सूत्र में जोड़े रखती थी। यज्ञ के अर्थ का विस्तार ही अनेक रूपों में हुआ और पूरा जीवन यज्ञ बन गया, पूरा विश्व यज्ञ बन गया, पूरा रचनात्मक व्यापार यज्ञ बन गया, हर एक उत्सव, हर एक मागलिक कार्य यज्ञ कहा जाने लगा। उस भाव का निर्वाह अपने देश के आदमी अपने देश से बाहर करें, यह सुखद स्पृहा का विषय है। हिन्दू धर्म का विश्वकोश ऐसी ही विशाल सहभागिता का यज्ञ हो तो ये विनम्र प्रयत्न सार्थक हों।

रथयात्रा

आज रथयात्रा है। जगन्नाथजी का काठ के पहियों का विशाल रथ अपार जनसमुदाय के कन्धों पर धीरे-धीरे चलता है, पुरी में श्रद्धालुओं की अपार भीड़ उमड़ती है, खींचने वाले रस्से पर हजार-हजार बाँहों से गुँथ जाती है। वहाँ का गजपति राजा पहले बुहारू लगाता है मार्ग पर, मार्ग पर छिड़काव होता है, प्रायः तो इन्द्र ही ऊपर से छिड़काव करते हैं, जगन्नाथजी बलरामजी और सुभद्रा के साथ गुंडीचा मन्दिर की ओर रथ पर सैर करने निकलते हैं। वहाँ उनकी मौसी है, मौसी के यहाँ कुछ दिन बिताकर फिर अपने धाम में लौटते हैं। नगर-नगर में यह उत्सव पुरी की रथयात्रा के प्रतिरूप के रूप में मनाया जाता है, काशी में रथयात्रा का मेला ही लगता है। और यदि उस दिन वर्षा हो तो बड़ा शुभ माना जाता है।

हमारे वाङ्मय में चार और प्रमुख रथयात्राओं की स्मृति सँजोयी हुई है। भगवान रामचन्द्र की रथयात्रा वनवास के लिए होती है। पिता सुमंत को आज्ञा देते हैं कि वन तक घुमा-फिराकर बच्चो को लेते आओ, पर वे भी जानते हैं, पूरी प्रजा जानती है कि भगवान राम वनवास की पूरी अवधि बिताये बिना नहीं आयेंगे। लोग विह्वल हो जाते हैं, बड़ी मुश्किल से राम उन्हें समझा पाते हैं, बड़ी दूर तक लोग रथ के पीछे दौड़े-दौड़े चलते हैं। राम अयोध्या में न रहें तो कैसे रहा जायेगा। पूरी अयोध्या तो प्रेतनगरी हो जायेगी, राम में ही तो अयोध्यावासी के प्राण बसते हैं। और वह रथयात्रा गंगातीर पर समाप्त हो जाती है। रथ से उतरते ही राम सब राजसी ठाठबाट त्याग देते हैं, केशों को जटा के रूप में बाँध लेते हैं, उसमें बरगद का दूध मिलाकर उसे लटीला बना देते हैं, नंगे पैर सामान्य बनकर बस एक धनुष हाथ में लिये चल पड़ते हैं, रथ लौट आता है, राम से विहीन होकर और लौटती रथयात्रा सुमंत के लिए मरण बन जाती है।

पर दूसरी रथयात्रा उसी से जुडी हुई और करुण है लक्ष्मण सीता

को गंगातीर पर वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचाने स्वयं रथ हाँककर आते हैं, सीता राम से अधिक उल्लसित हैं, कितने दिनों बाद पुनः गंगा की गोद में बैठूँगी, वन की स्निग्ध छाया में बैठूँगी, बड़ी साध थी धरती की बेटी को कि जो सन्तान पेट मे पल रही है, उसे जन्म के पहले वन की सहजता का संस्कार मिल जाए। और यह रथयात्रा सीता का निर्वासन बन जाती है, लक्ष्मण राजाज्ञा सुनाते हैं और बिलखते रहते हैं, सीता चुपचाप राजाज्ञा स्वीकार कर लेती हैं, पर उलाहना भी देती है कि अपने राजा से कह देना कि क्या यही रघुकुल के राजा के उपयुक्त था कि गर्भिणी नारी को उसके होने वाले बच्चों की चिन्ता न करते हुए असहाय वन मे छोड दें। और लक्ष्मण के जाते ही, सीता ऐसी फूट-फूटकर रोती हैं कि पूरा वन बिलखने लगता है, मृग चरते-चरते रुक जाते हैं, मुँह में पड़ी घास नीचे गिर जाती है। मोर नाचते-नाचते सहम जाते हैं। वृक्षों से कुसुम आँसू की तरह फहरा पडते हे, पूरी सृष्टि क्रन्दन कर उठती है, यह स्वर वाल्मीकि को, रामचरित के गायक को भी विह्वल कर देता है, उन्हें बहुत आश्चर्य होता है, राम तुमने यह क्या किया? लोकस्मृति ने इस रथयात्रा को करुण गीतों के आँसुओं में पिरोकर रखा है। जहाँ सीता विलपती हैं—कौन मेरे बच्चे जनने के समय मेरी देखरेख करेगा, कौन प्रकाश करेगा, लकड़ी जलाकर ही मैं उसके उजाले में अपने बच्चे का मुँह देखूँगी। जँतसार के गीत में यह विलाप आज भी आबद्ध है। उधर राम की रथयात्रा के बाद अयोध्या सूनी हुई थी, पर सीता की रथयात्रा के बाद अयोध्या के प्राण राम सूने हो जाते हैं।

उस व्यथा को संस्कृत के कवियों में भवभूति ने समझा, राम भीतर से कैसे टूटते हैं। वह रथयात्रा भी, अनुमान है झुलसती गर्मी में हुई होगी।

तीसरी रथयात्रा है ब्रज से मथुरा के लिए। श्रीकृष्ण और बलराम के लिए कंस का निमंत्रण आता है कि मल्लयुद्ध का तमाशा है, आएँ, अक्रूर रथ लेकर आते है और गोप-गोपियों की आँखों की पुतली हुए श्रीकृष्ण रथ पर जब चलने लगते है, तो गोपियाँ रथ के पहियों से लिपट जाती हैं, यशोदा मूर्च्छित हो जाती हैं, पूरा ब्रज जैसे फट पड़ता है, श्रीकृष्ण मथुरा जा रहे हैं, दूर नहीं, बस दो-ढाई कोस। पर जो ब्रज में नंगे पैर गायें चराता रहा, वह रथ पर चढ़ाकर ले जाया जाये, यह बहुत असहज लगा। यह भी नहीं कि श्रीकृष्ण अकेले जा रहे हैं, साथ में नन्द बाबा है, गोप हैं, पर ब्रज का मन कहता है कि श्रीकृष्ण अब नहीं लौटेंगे। श्रीकृष्ण कुछ नही कहते, मन ही मन सोचते हैं, मैं यह छोड़कर कहाँ जा रहा हूँ, मेरा केवल विष्णु रूप पालक रूप जा रहा है, मेरी दूसरी भूमिकाएँ हैं, उन्हें पूरा करने के लिए मेरा कर्मशरीर जा रहा है, पर मेरे जीवन का आह्लाद यहीं है, आह्लादिनी शक्ति यही

हे, विराट ब्रह्म की आकांक्षा की पूर्ति यहीं है, मेरा रस यहीं है, मेरा रास यहीं हे। पर गोपियाँ जानती हैं कि सब कुछ वैसे ही चलता रहेगा, घर-काज वैसे ही चलेगा। तब दिन भर उनकी बाट जोही जाती थी, अब दिन-रात उनकी बाट जोही जायेगी, श्रीकृष्ण आ रहे हैं, गउओं की खुरों से रौंदी जाती धरती के धूलिकणों से उनकी लटें सनी हुईं, श्रम की बूँदें ललाट पर झलकती हुई, हुमकती हुई गायें आगे ओर पीछे-पीछे एक हाथ में वंशी, एक हाथ में लकुटी लिये श्रीकृष्ण आ रहे होंगे, हमारी ऑखों के उत्सव आ रहे होंगे। उस उत्सव को हम जीती रहेंगी, उस तरस को हम जीती रहेंगी, उस दरस को हम जीती रहेंगी। श्रीकृष्ण ब्रज के रोम-रोम में बस जाते हे, आज भी बसे हुए हैं, वह रथयात्रा ब्रज के जीवन का नया अध्याय है, एक सनातन प्यार में उमड़ाव का, जो कभी भी कम न होगा।

एक और रथयात्रा है—चोरी चोरी आधी रात भगवान बुद्ध की। पुत्र जन्म होते ही, उत्सव के खुमार में अलसायी स्त्रियों के बीच से सिद्धार्थ निकल पड़ते हे, बोधि की राह पर और अनोमा (अनुपमा, आज की आमी) के तट पर आकर रथ से उतर जाते हैं और अपने राजसी वस्त्र सब उतारकर अपने सारथि छन्दक को दे देते हैं, उसके पहले उनकी छन्दक के साथ एक और रथयात्रा हो चुकी थी जब उन्हें जरा, रोग और मृत्यु का पहला दर्शन मिला था और वैराग्य का बीज उनके भीतर अंकुरित हुआ था। पर दूसरी यात्रा बड़ी महत्वपूर्ण यात्रा है। विश्व में करुणा का संदेश देने का पहला चरण है यह कठोर निर्मम निस्संग संकल्प, जो इस रथयात्रा के समय लिया गया।

रथ और रथ का पहिया हमारी संस्कृति के बड़े महत्वपूर्ण विम्ब हैं। अब तो जाने कैसे-कैसे रथ चलने लगे, कैसी-कैसी रथयात्राएँ होने लगीं, पर हमारी रथयात्रा पर सवार होने की योग्यता तो राम, सीता, कृष्ण और बुद्ध के अलावा किसी मे हे नहीं।

हम तो नित्य रथयात्रा करते हैं, यह शरीर ही रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है। इन्द्रियगण घोड़े हैं, मन लगाम है, इन सबको एक सामंजस्य में स्थापित करने का संकल्प बार-बार होता रहता है और असहज भोग से सहज साहचर्य की ओर, सहज आत्मीयता की ओर रथ मोड़ने का संकल्प उठता रहता है, सही दिशा मे रथ मोड़ने का संकल्प होता रहता है, कुछ इन्द्रियों की चपलता से, मन की दुर्दम्यता से और बुद्धि के प्रमाद से शरीर अवश हो जाता है, रथी भी ऊँघने लगता है और रथ कीचड़ में फँस जाता है।

भगवान जगन्नाथ की रथयात्रा में रथ कभी नहीं जुता, श्रीराम की रथयात्रा मे जाने रहा; न रहा, कभी इतना भाग्य रहा कि ब्रज में श्रीकृष्ण को विलसते देखा

हो, ऐसा संभव नहीं दिखता। भगवान बुद्ध की रथयात्रा तो उनके परिजनों तक ने नही देखी। सीता का विलाप जरूर कानों में गूँजता रहता है। सीता का वह वाक्य जॅतसार (चक्की) के गीतों से ध्वनित होता हुआ सुनायी पड़ता है—जिसने मुझे गर्भिणी अवस्था में घर से निकाला, उस पुरुष का मैं मुँह भी नहीं देखूँगी। यह वाक्य कहते-कहते वे धरती से आयीं, धरती में समा गयीं। सबसे अधिक सीता के कारण ही मन पर रथयात्रा की अमिट छाप पड़ी हुई है, शायद मेरे जैसे अटपटी राह के पन्थी लेखक की यही रथयात्रा है।

तीर्थाटन : मनुष्य की सहजता का बोध

पर्यटन और तीर्थाटन में बुनियादी अंतर यह है कि पर्यटन या तो शुद्ध घुमक्कड़ी के भाव से किया जाता है और उसमें स्थान का महत्व नहीं है, घूमने का महत्व है और घूमने से अधिक फक्कड़पन के साथ रमने का महत्व है। या पर्यटन का अर्थ ऐसा घूमना है, जो शुद्ध भोग वृत्ति से होता है, मौज लेने के लिए लोग रमणीय स्थानों पर घूमने जाते हैं या मंडलियों में व्यावसायिक समुदाय घुमाने ले जाते हैं। तीर्थाटन का शुद्ध उद्देश्य अपने को अकिंचन बनाकर ऐसे स्थानों पर जाना है, जहाँ हजारों लोग जा चुके हैं और वहाँ स्नान करके, ध्यान करके, पूजा करके अपने को कुछ नया अनुभव कर चुके हैं। सच्चा तीर्थयात्री केवल स्थान की यात्रा नहीं करता, स्थान से जुड़े हुए तपस्वी लोगों के साथ सत्संग भी करता है। हमारे साहित्य में सबसे पहले तीर्थयात्रा का विस्तृत विवरण महाभारत में मिलता है, जहाँ पर युधिष्ठिर ने वनवास का उपयोग तीर्थभ्रमण के लिए किया और वहीं पर भारत के पुराने तीर्थों के बारे में सबसे पहला परिचय मिलता है। इसके पहले रामायण में भी कई तीर्थयात्राओं का वर्णन है, पर युधिष्ठिर ने भाइयों और द्रौपदी के साथ पूरे भारत के तीर्थों की यात्रा की। तीर्थयात्रा कोई यात्रा नहीं होती, वह तो एक भाव है, जिसमें आदमी अपने को पूर्णरूप से विसर्जित करना चाहता है, खोना चाहता है और किसी नदी-संगम या सागर-संगम या सरोवर में डुबकी लगाकर अपनी क्षुद्र सीमाओं के पार जाना चाहता है। तीर्थयात्राओं ने भारत को सांस्कृतिक रूप से जोड़ने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, क्योंकि भारत के तीर्थ चारों दिशाओं में व्याप्त हैं--चाहे चारों धाम हों (बद्रीनाथ, जगन्नाथ, रामेश्वर और द्वारिका), चाहे मोक्ष देने वाली सात पुरियाँ हों (अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, काँची, उज्जयिनी और द्वारिका), चाहे नदियों के उद्‍गमों की यात्रा हो (गंगोत्री, जमुनोत्री, नासिक, अमरकंटक और मानसरोवर), चाहे सागर-संगम-यात्रा

हो (गंगासागर, कन्याकुमारी और प्रभास)। ये सभी यात्राएँ एक कोने से दूसरे कोने तक इस तरह ले जाती हैं कि आदमी अनुभव करता है कि सर्वत्र एक ही तरह की पवित्रता की धड़कन है, एक ही तरह पराये को अपनाने का भाव है, एक ही तरह घोर से घोर व्यावसायिकता के बीच आत्मतुष्टि है कि तीर्थयात्रा का कष्ट सफल हुआ। तीर्थयात्री को इस कष्ट का फल अपने आसपास के लोगों के स्नेह और आदर में भरपूर मिलता है। ऐसी कष्टकर यात्रा के लिए जो निकलता था, वह सबसे विदा लेकर निकलता था, क्योंकि बहुत से लोग लौट ही नहीं पाते थे। इस प्रकार तीर्थयात्रा के लिए निकलना परिव्रजन था। लोग गेरुआ पहनते थे या कम से कम गेरुआ वस्त्र सिर पर बाँधकर निकलते थे, अपने नाते-रिश्तों को छोड़कर समष्टि में मिलने के लिए निकलते थे।

बहुत व्यावसायिकता आने के बावजूद आज भी तीर्थयात्रा का भाव बना हुआ है। जहाँ पर्यटक विश्राम गृह हैं और पहाड़ों की सैर के लिए जाने वाले लोग पूरी तरह अपनी आमोद वृत्ति की पूर्ति चाहते हैं, वहीं तीर्थयात्री घनघोर शीत में प्रयाग में छोटी-सी छोलदारी या छोटी-सी झोंपड़ी में पुआल बिछाकर या कभी-कभी नगी बालू पर खुले आसमान के नीचे सोते हुए रात काट देते हैं, क्योंकि उन्हें भोर होते ही त्रिवेणी में डुबकी लगानी है और फिर साथ में लाये हुए पाथेय का बहुत बडा अंश तो दान दे देना है और थोड़े से अंश से अपना पेट भरकर प्रसन्न मन घर लौट जाना है, यही भाव रहता है। वह व्रत लेकर रहता है कि जमीन पर सोयेंगे, एक समय सादा भोजन करेंगे और जप-तप में समय बितायेंगे या दूसरे लोगों को भोजन करायेंगे। ऐसे तीर्थयात्रियों की व्यवस्था अपने आप हो जाती हे। उसके लिए कोई विशेष उद्यम कोई नहीं करता और न कोई तीर्थयात्री विशेष सुविधा का चाहक ही होता है। आज सुविधाएँ बहुत दूर तक बढ़ गयी हैं। बसे बद्रीनाथ, गंगोत्री तक पहुँचने लगी हैं, पर सुविधाओं को तो आदमी घर पर ही छोडकर चलता है और मानकर चलता है कि तीर्थयात्रा एक ऊँचे उद्देश्य से की गयी तपस्या है। आज भी तीर्थयात्रियों के लिए जितनी व्यवस्थाएँ की गयी है, वे सब बहुत ही अपर्याप्त हैं। 20-25 हजार लोगों के लिए तिनकों के महल बनते है ओर 50 करोड़ से ज्यादा खर्च का हिसाब बैठता है। कुंभ के अवसर पर प्रयाग मे एक करोड़ आदमी एकत्रित होते हैं। कई दिनों तक 25 लाख से ज्यादा लोगों की भीड रहती है। तब भी उनके ऊपर इसका छोटा-सा हिस्सा ही व्यय होता है।

तीर्थयात्री का भाव भोक्ता का भाव नहीं है। तीर्थयात्रा ऊबे हुए मन से नही की जाती कि मन नहीं लग रहा है तो कैसे मन बहलायें। तीर्थयात्रा की जाती है अत्यत उत्सुक मन से बडी साध वाले मन से कि वर्षों के बाद हमारी अभिलाषा

पूरी हुई है कि हम चारों धाम कर आये। हम इतने ज्योतिर्लिंगों का दर्शन कर आये। वह बहुत साधारण बनकर निकलता है और अपनी सब पहचानों को घर छोड़कर निकलता है। उसकी एक ही पहचान होती है कि वह तीर्थयात्री है। साथ ही वह तीर्थयात्री अकेला नहीं है, उसके साथ विशाल जनसागर है। जब चित्रकूट मे कामदगिरि की परिक्रमा होती है, अयोध्या में 14 कोस की परिक्रमा होती है, वृंदावन में 12 कोस की परिक्रमा होती है, काशी में 5 कोस की परिक्रमा होती है, गोवर्धन की परिक्रमा होती है तो लोग नंगे पाँव स्नान करके सवेरे निकल पड़ते है ओर बड़े उल्लास से गाते, कीर्तन करते चलते हैं। कहीं थकान लगी तो कुछ खा-पी लिया। कहीं पड़ाव पड़ा तो कथा-वार्ता सुनते रहे। ये परिक्रमाएँ किसी स्थान की परिक्रमा ही नहीं होतीं, ये परिक्रमाएँ आदमी के अपने भीतर भी होती हैं, क्योंकि ये परिक्रमाएँ करते समय वह अपने भीतर और घुसता चला जाता है। उसे ऐसा लगता है और वह एक बड़े विशाल भाव से भरता चला जाता है कि क्या ठाठ है, राव-रंक, बूढ़े-बच्चे, सब एक साथ चल रहे हैं और इस रूप में चल रहे हैं कि कोई अगर थक रहा है, नीचे लुढ़क रहा है तो उसको भी उठाते चलें, सँभालते चले। इसलिए यह परिक्रमा स्वयं के उत्सर्ग की परिक्रमा होती है। इन परिक्रमाओं के ही कारण स्थान पवित्र हो गये हैं, जहाँ पर हजारों वर्षों से लाख-लाख मनुष्य इसी पवित्र भाव से नियमित रूप से आते हैं और अपनी क्षुद्रता को विशालता में परिणत करते हैं, उस स्थान में अपने आप अपूर्व शक्ति आ जायेगी। परिक्रमा एक साथ दिव्य पवित्रता का बोध है और लौकिक मंगलकामना का संकल्प है। यह सही है कि अब परिक्रमा के साथ कुछ कामनाएँ भी जुड़ने लगी हैं, पर परिक्रमा का सही उद्देश्य निष्काम ही है। निष्काम अपूर्व तृप्ति पाना है, क्योंकि उस तृप्ति के साथ चलने वाले दूसरे यात्री ही नहीं होते, उस तृप्ति की सहभागी पूरी प्रकृति होती हे, जिसके बीच में से यह परिक्रमा होती है।

तीर्थयात्रा भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा अंग है। यही मनुष्य को उसके सहज रूप का बोध कराती है, यही उसे सबके साथ सहभागी बनाती है और यही उसके छोटे दायरे को समाप्त करती है और यही संस्कृति को निरंतर गतिशील बनाती है।

भारतीय संस्कृति के सनातन तत्व : तीर्थ-परम्परा

तीर्थयात्रा का महत्व प्रत्येक संस्कृति में किसी न किसी रूप में है, क्योंकि तीर्थयात्रा आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों स्तरों पर अपनी संस्कृति के अर्थ की पहचान भी है, जाँच भी है और उसका संस्कार भी है। भारतीय संस्कृति में तीर्थ अपने आप में एक विशिष्ट केन्द्र है मूल्यवत्ता का। ऋग्वेद मे तीर्थ शब्द का प्रयोग तीन अर्थो में मिलता है, पहला अर्थ है, मार्ग जो अभीष्ट गन्तव्य तक पहुँचाए, दूसरा अर्थ है, ऐसा सुगमता से पार होने के लिए नदी का घाट, जहाँ नाव की आवश्यकता न पड़े, स्वयं आदमी पार हो सके, तीसरा अर्थ है, वह पवित्र स्थल जो जीवन में सन्तरण का भाव लाये। तीर्थ के कालान्तर में और अनेक अर्थ विकसित हुए। विद्याध्ययन का स्थान भी तीर्थ कहलाया, आचार्य या गुरु भी तीर्थ हैं, क्योकि वे पार कराते हैं, अज्ञान के समुद्र के पार, इसी से एक गुरु से अध्ययन करने वाले परस्पर सतीर्थ्य कहे जाते हैं। अध्ययन के लिए जाना तीर्थ की तलाश में जाना है। मनुष्य का दाहिना हाथ भी तीर्थो का संगम है, उँगलियों का अग्रभाग देवतीर्थ है, हथेली का बायाँ छोर मानव तीर्थ है और अँगूठे और तर्जनी के बीच का यह ढलान पितृतीर्थ है। इसका अभिप्राय केवल अनुष्ठान भेद नहीं है कि देवताओं को तर्पण उँगलियों के सिरे पर जल गिराकर किया जाये। मनुष्यों को हथेली की बायीं ओर से जल गिराकर और पितरों को अँगूठे ओर तर्जनी के बीच से हथेली की दायीं ओर से जल गिराकर। इतना तो दृश्य प्रयोजन है, भीतरी प्रयोजन यह है कि देवता आगे हैं, पितर और मनुष्य दायें-बायें। हाथ कर्म का प्रकृष्ट साधन है, इसी से वह कर्म का प्रतीक है, कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित दाहिने हाथ में कम है बायें में जय जय हल्की वस्तु है कर्म

ठोस पदार्थ है, वह हो तो जय जैसे अपने आप है, पर कर्म अग्रगामी होते हुए भी परिपार्श्व का ध्यान रखते हुए हो तभी सम्पूर्ण कर्म होता है।

तीर्थ का एक अर्थ जल, विशेष रूप से पवित्र अभिमंत्रित जल हो जाता हे। दक्षिण भारत में सामान्य पीने के पानी से जब जल को अलग करके देखते है तो उसे तीर्थम् कहते हैं, क्योंकि वह जल स्पर्शमात्र से पवित्र करता है, क्योंकि उस जल में संस्कृति का पूरा प्रवाह समाया रहता है, बार-बार ध्याये हुए मन्त्र के कारण और मन्त्र के साथ अपने आप प्रतिबोधित मनुष्य और सृष्टि के गहरे रिश्ते के कारण वह जल तीर्थ ही तो है। हिन्देसिया में बाली द्वीप में गुरुपेदण्ड लोगों का मुख्य कार्य ही प्रत्येक गृहस्थ के लिए तीर्थ तैयार करना है। वहाँ के प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत से निकले स्रोत के जल को वे अलग-अलग पात्रों में रखकर अभिमंत्रित करके अलग-अलग रखते हैं, उन्हीं से थोड़ा-थोड़ा जल और छोटे पात्रो में वितरित होता है, उसकी एक बूँद दो बूँद ही शेष जल को पवित्र करने के लिए पर्याप्त होती है। मुझे बड़ा विचित्र लगा कि तीर्थ बनाया जा रहा है। परन्तु जब मैने अपनी संस्कृति के बारे में और गहराई से सोचा तो लगा कि तीर्थ तो कोई सिद्ध वस्तु नहीं है, वह बनाया ही तो जाता है, हम जिसे अपनी पवित्रता पूरे पवित्र और निश्छल मन से सौंपते हैं, वह पवित्र होगा ही। समष्टि मन का सहज शुचि होने का संकल्प शुचिता के अनवच्छिन्न प्रवाह को जन्म देगा ही। श्री दिलीपकुमार राय ने श्रीकृष्ण प्रेम नामक अपने संन्यासी मित्र से पूछा कि आप गंगा की स्थूल जलराशि में देवत्व क्यों मानते हैं, श्रीकृष्ण प्रेम ने ही यह उत्तर दिया था कि कोटि-कोटि मनुष्यों के मन की पवित्रता के सूक्ष्म कण क्या संपुंजित होकर एक स्थान से स्थूल वस्तु को इतना अभियावित नहीं कर सकते कि वह बहुत बडी पवित्रता की ऊर्जा की महाराशि बन जाय। तो तीर्थ ऐसे ही बनते हैं और बने हे।

पहले मनुष्य नदी में स्नान करता था, अपने को जीवन के विशाल प्रवाह मे एकाकार करके विशाल व्यापक चैतन्य-प्रवाह से जोड़ता था, भीतर और बाहर धुल जाता था, वह एक दीक्षा लेता था। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि मनुष्य जब जल में विशेषतः नदी के जल में स्नान करता है तो वह दीक्षा और तप से सीधे जुडता है, वह तीर्थ में स्नान करके जहाँ है, उस सीमित स्थिति से, दायरे से मुक्ति पाकर विशाल मनोभूमि में पहुँच जाता है। तैत्तिरीय संहिता का वह वाक्य इस प्रकार है, आसु स्नाति साक्षादेव दीक्षा तपसी अवरुन्धे तीर्थे स्नाति। हमारी संस्कृति नदीमातृक संस्कृति है, इसका भौगोलिक कारण तो है ही, एक भीतरी कारण भी है, जल हमारे लिए अव्यक्त भाव का प्रतीक है, अग्नि व्यक्त भाव का, दोनो के योग से पूरा भाव बनता है प्रत्येक पूजा या अनुष्ठान में इन दोनों की

पडती है, हम पहले अव्यक्त या सोए हुए विशाल या विराट को जगाते हैं, उसका स्पर्श करते हैं, उसका आचमन करते हैं, उसी का अर्घ्य उसी को देते हैं और तब अग्नि और प्रकाश से जुड़े अनुष्ठान करते हैं। जल को ही हम सृष्टि के बीज का आधार मानते हैं, इसी से हम गतिशील जल को, दूसरे शब्दों में नदी को इतना महत्व देते हैं।

नदी के इस भीतरी स्वरूप का ही सहारा पाकर या नदी का भी उद्‌गम स्थल तलाशने की आवश्यकता अनुभव करके हम उन स्थानों को भी तीर्थ कहते है, जहाँ एक चिन्तन-मनन की, तप की धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है, जहाँ सहज प्रकृति से संवाद स्थापित करने वाले, सह जीवन बिताने वाले ऋषिमुनि रहते आ रहे हैं, जहाँ एकाग्र भाव से विराट सत्य का अनुसन्धान होता आ रहा है। इसी से पद्मपुराण में कहा गया है—

प्रभावाद् अद्‌भूताद् भूमेःसलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुगीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।।

तीर्थ पुण्यशाली इसलिए होते हैं कि वहाँ भूमि का प्रभाव अद्‌भुत है, वहाँ भावबुद्धि होती है, वहाँ जल में तेज है, वहाँ मुनि अध्ययन करते हैं।

ऐसे तीर्थों की यात्रा करने के लिए एक विशेष प्रकार के तेज की जरूरत पडती है, एक बार सब तैयारी किनारे रखकर निःस्व होकर चल पड़ने के संकल्प की जरूरत पड़ती है। महाभारत में वनपर्व में युधिष्ठिर जब तीर्थयात्रा के लिए निकलना चाहते हैं तो उन्हें उपदेश देते हुए ऋषि कहते हैं—

तीर्थयात्रा के पहले सब परिग्रह अलग कर दें, चाहे वह परिग्रह धन का हो, वस्त्र-आभूषण का हो, सेवकों का हो, जाति-कुल का हो या ज्ञान का हो, मनुष्य अकिंचन होकर तीर्थयात्रा पर निकले और उसे जो मिल जाये, जब मिल जाये, उससे सन्तोष करे। आमोद के भाव से, इन्द्रिय सुख के भाव से पिकनिक पर न चले। पहले ही सम्पूर्णता के भाव से भरकर चले। अहंकार से निवृत्त होकर चले, इस अहंकार से भी कि मैं तीर्थ करने जा रहा हूँ, कुछ बड़े महत्व का काम कर रहा हूँ। मैं को घर पर ही छोड़ दे। लोग पहले चारों धाम, विशेषतः बदरीकेदार जाते थे तो घर से विदा हो के, उसका भी अभिप्राय यही कि जो शरीर जा रहा है, वह अहभाव से अलग होकर जा रहा है, वह शरीर है ही नही, इसी से लोग अपना श्राद्ध करके भी जाते थे। सबका अभिप्राय है कि तीर्थयात्रा पर चले तो सर्वमय होकर, साधारण होकर चले। मन में कोई कलंक या कसम रखकर न चले, न कुछ सोचकर चले यह करना है, इस क्रम से करना है। रास्ते में हल्का-सा आहार ले दि बस यात्रा चलती रहे ऐसा व्यक्ति कभी किसी पर नाराज नहीं होगा इससे जह

जायेगा, जहाँ टिकेगा, वहाँ पर तीर्थ बनता जायेगा, उसके बुरे भाव अपने आप उसका साथ छोड़ने लगेंगे, वे ऐसी सहज सर्वमयता के साथ टिक नहीं सकते। जब आदमी सभी प्राणियों को अपने आप से देखना शुरू करता है, तभी तीर्थयात्रा शुरू हो जाती है और ऐसी ही तीर्थयात्रा का फल होता है, वह फल है व्यक्ति का निमज्जन और सर्वात्मा का उन्मज्जन, नहाते समय व्यक्ति रहता है, नहाकर निकलता है तो समष्टि के भाव से आप्लावित होकर निकलता है।

महाभारत के श्लोक इस प्रकार हैं—

परिगृहाद्धपावृत्तःसन्तुष्टो येनकेनचित्।
अहंकारानवृतश्च स तीर्थजलमश्नुते।।
अकल्लंको निरारंभो लध्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते।।
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
अनुक्रोशपरो भूते स तीर्थफलमश्नुते।।

तीर्थयात्रा के पड़ाव होते थे, ऋषियों के आश्रम, देवताओं के स्थान, जहाँ जाने कहाँ-कहाँ से आये यात्री मिलकर एक-दूसरे की थकान अपनी-अपनी यात्राओं के अनुभवों से हर लेते थे और आश्रमवासियों या श्रद्धालु गृहस्थों का आतिथ्य भीतर बड़ी शक्ति देता था कि सभी अपने हैं। प्राचीनकाल में बहुत-सी कथाएँ, गाथाएँ, सृष्टि और मनुष्य के सम्बन्ध के बहुत से पुराण इन्हीं पड़ावों पर विश्राम करते समय लोगों को सहज मिल जाते थे। यही तो आराम है और यही वास्तविक शिक्षा भी थी।

तीर्थयात्रा बड़ी कठिन होती थी। भूमिशयन तृणशय्या, स्वल्प आहार ओर वह भी देव-पितृ-मनुष्य तर्पण के बाद। तीर्थ की शुचि रखना तीर्थयात्री का प्रथम धर्म था, कोई न थूक सकता था, न अपनी मैल तीर्थ के जल में छुड़ा सकता था। तीर्थ के उपान्त में कहीं भी गन्दगी नहीं की जा सकती थी। प्रायः लोग बाह्य शौच की आलोचना करते हैं, पर भारतीय संस्कृति आभ्यन्तर और बाह्य दोनों स्तरों पर शुचिता को महत्व देती है, वह दोनों स्तरों में अन्तर नहीं देखती। तीर्थयात्रा अब जैसी हुई है, उसकी बात मैं नहीं करता, पर युधिष्ठिर और राम ने जो तीर्थयात्रा की, जो श्रीकृष्ण ने अपने गुरु घोर आंगिरस सान्दीपनि के विद्यातीर्थ की यात्रा की वे ही यात्राएँ प्रतिमान हैं तीर्थयात्रा की।

हम जो आज तीर्थयात्रा का बहुत अधिक महत्व आँकते हैं तो इस भाव से कि हमारे तीर्थ देश के कोने-कोने में हैं, इनकी यात्रा में देश की भावात्मक एकता की अपने आप सीधी पहचान हो जाती है इनका राष्ट्रीय महत्व है पर यह

पहचान तो स्थूल पहचान है, भीतरी पहचान है, इसकी कि शिव उन्मत्त होकर शक्ति के खण्ड-खण्ड गिराते हुए इस देश में घूमे हैं, शक्ति के कितने पीठ बन गये है, राम और युधिष्ठिर ही नहीं, बड़े-बड़े साधक बुद्ध-महावीर, शंकर, रामानुज वाचमय चैतन्य घूमे हैं। कवियों सन्तों ने फेरी लगायी है, लाख-लाख हमारे पूर्वजों ने अपने नाम जाने किन-किन स्थानों की बहियों में दर्ज कराये हैं और इन स्थानों मे स्मृतिमात्र नहीं है, एक जाग्रत जीवन्त अनुभव है कि हम उस विशाल जाति के सदस्य हैं, जो ऐश्वर्य को महत्व नहीं देती, जो व्यक्ति को भी महत्व नहीं देती, एक प्रवाह को जिससे एकाकार होकर ही व्यक्ति राम-कृष्ण को अपने बीच पाता है, बुद्धावतार युग में जीता है, महत्व देता है, तीर्थ से अधिक तीर्थयात्रा के भाव को महत्त्व देता है। भावहीन तीर्थयात्रा का कोई महत्व नहीं, और भाव हो तो तीर्थस्नान हो न हो, खुले कण्ठ से जो गान उमड़ता है, रघुवर संगे जाब हम न अवध में रहबै—हम बनवासी राम के साथ चलेंगे, अयोध्या में नहीं रहेंगे, राम के साथ चलने का भाव चित्रकूट बन जाता है।

तरहटी गोवर्धन की रहिए

भगवान श्रीकृष्ण के लीला-प्रसंग में गोवर्धन का महत्व क्यों है, इस पर पर्याप्त चिन्तन कहीं नहीं मिलता। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गोवर्धनधारी श्रीनाथजी के विग्रह को आराध्य बनाया। लोग कहते हैं, बालकृष्ण के पराक्रमी रूप को वे ध्याना चाहते थे। उन्हें लोक के लिए ऐसे रूप पर ध्यान टिकाना था, जो सहज सुलभ हो और साथ ही अपूर्व पराक्रमशाली हो। भगवान का गोचारण वाला रूप सहज सुलभ और कन्नी उँगली पर गोवर्धन पर्वत उठाने वाला रूप अत्यन्त पराक्रमी। दोनों एक विग्रह में सबसे अधिक उन्हें मोहक लगे। कुछ भक्त लोग यह व्याख्या करते हैं कि श्रीगोवर्धन पर्वत तो विष्णु पर्वत है, जैसे नन्दगाँव ब्रह्म पर्वत है या बरसाना शिव पर्वत है। भगवान ने गोवर्धन क्या धारण किया, अपने स्वरूप को धारण किया। वह स्वरूप ब्रजेश्वर का स्वरूप है, वन, वनवासी, वन में चरने वाली गउओं, इन सबका पालन करने वाले का रूप है। इन्द्र के प्रतिशोध का अर्थ यह है कि ब्रजभूमि का अधिपति इन्द्र नहीं है, ब्रजभूमि के कण-कण में, पात-पात मे, द्रव-द्रव में अपने आप ऐश्वर्य है। यह भूमि ही अपनी अधिपति है। भगवान के नगे पैरों के स्पर्श से धन्य हुई भूमि तो साक्षात् देवताओं की देवता है। यहाँ इन्द्र बापुरो कौन! यह भी उल्लेखनीय है कि गोवर्धन-लीला के पहले ही ब्रह्मा का मोहभंग हो चुका है। वे एक वर्ष तक बछड़ों, गोप-बालकों के शरीरों को श्रीकृष्णमय बनाकर ब्रह्मा को छका चुके थे। एक प्रकार से ब्रजभूमि की नयी पीढ़ी की नयी सृष्टि कर चुके थे, सहस्रों गोमाताओं ने श्रीकृष्ण को दूध पिलाया, सहस्रो गोप-माताओं ने श्रीकृष्ण को गोद में लिया, उबटन लगाया, नहलाया, खिलाया, उनकी बलैया लीं। ब्रज का साधारण भी असाधारण हो गया, और असाधारण परब्रह्म सर्वजन साधारण हो गया।

एक और है रासलीला की भूमि तैयार करने का काम करती है

गोवर्धन लीला। गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण दो प्रकार से समस्त सृष्टि के साकार रूप हो गये हैं, एक तो गिरिराज स्वयं विष्णु हैं, व्यापक हैं, वह आश्रय हैं, वह गोपालकों, गउओं और वनस्पतियों का समष्टि चैतन्य हैं, दूसरे श्रीकृष्ण समस्त गोकुल की गायों, गोपियों, गोपों, गोप-बालकों और बछड़ों के साथ, छकड़ों पर रखे समस्त ब्रज-वैभव के साथ सबके प्राण बनकर, सबकी ऊर्जा बनकर ललित भाव से खडे मुस्करा रहे हैं, इन्द्र की नादानी पर, गिरिराज फूल की माला की तरह उँगली पर टँगा हुआ है, मानो समस्त ब्रह्माण्ड दो भागों में अपने को बाँटकर कोई कौतुक कर रहा हो। ऐसे श्रीकृष्ण के साथ महारास विश्व चेतना को उमड़ाने वाली घटना बन जाता है। वहाँ शरीर शरीरी बन जाते हैं, इन्द्रियाँ आत्मा बन जाती हैं। नृत्य की चेष्टाएँ आनन्द की वृत्तियाँ बन जाती हैं और श्रीकृष्ण बन जाते हैं ब्रह्म के रस के रूप में चंचल द्रव, पारे की तरह हाथ में न आने वाले, कभी यहाँ, कभी वहाँ, कभी कहीं नहीं, सबमें और सबसे छिटककर अलग। समय वहाँ ठहर-सा जाता है, चाँदनी में भीगे हुए झाऊ, यमुना पुलिन के रेतकण, यमुना और यमुना की तरह उद्वेलित रुपहला आकाश—सब उस रस में नहाकर सिहर उठते हैं। एक तरह से सृष्टि पुलकित हो जाती है। वह साधारण देह-संयोग नहीं है क्योंकि देह-गेह का वहाँ बोध नहीं रह गया है। ऐसा महारास बिना गोवर्धन लीला की पीठिका के सभव कैसे होता। श्रीकृष्ण का इनका सान्निध्य सात दिनों तक निरन्तर रहा, श्रीकृष्ण के मुस्कराती दीठ का दुलार, इनकी सहस्र आँखों को मिला। ऐसा सख्य जिसे मिला, वह क्या गोपीमात्र रह सका, अपने प्रिय को निहारने वाली राधा के नयन क्या स्वयं राजीव नयन नहीं हो गये, कौन अपना रह गया, सब तो उसी एक ऐसी अपूर्व घटना के कारण श्रीकृष्णमय हो गये। श्रीकृष्ण का प्यार झरने की ऐसी घटना हुए बिना महारास का आयोजन कैसे होता!

एक और बात सूचित होती है। सिर पर गोवर्धन-धारण का अर्थ है, पूरी वनमयी उपत्यका की शोभा को महत्व देना, गिरिमाता के साथ जुड़ी हुई सहज जीवन-पद्धति को महत्व देना। सबसे अधिक इसका महत्व इस रूप में है कि श्रीकृष्ण गोवर्धनधारी होने के बाद फिर सदा-सदा के लिए ब्रज-संस्कृति के ऋणी हो जाते हैं। यह ऋण वे कभी अदा नहीं कर पाते। इसी से वे इतनी बडी भूमिकाओं में उतरने के बाद भी अपनी सामान्यता ही बनाये रखते हैं। ब्रज का भाव ही उनका मुख्य भाव है। इसी के कारण वे इतने खुले हुए, इतने असीम, इतने निस्संग, इतने उत्सर्ग भाव वाले महापुरुष के रूप में अपनी लीला का वितान रचते जाते हैं। राजकाज और राजनीति उनके सिर पर नही विराजती, उनकी उँगलियो मे नाचती रहती हैं। कोई भी ऐश्वर्य उनके ब्रजवैभव के आगे तुच्छ ही सिद्ध होता है

इन संदर्भों में श्रीकृष्ण के गोवर्धनधारण को देखना सम्भव तभी होता है, जब हम इस गोवर्धन के चारों ओर विचरण करें, गोवर्धन की महिमा का स्पर्श करें। भगवान द्वारा प्रकटायी मानसी गंगा में अवगाहन करें और प्रतिक्षण अनुभव करें कि श्रीकृष्ण की उँगली पर छत्र की तरह तना यह गुल्मों का वितान, यह पथरीली धरती, यह हिमालय को लजाने वाली उपत्यका सबसे विश्वसनीय आश्रम है, इसे रावण ने उठाकर नहीं हिलाया, इसे श्रीकृष्ण ने लीला-भाव से सिर पर उठाया और इसे वह ऐश्वर्य प्रदान किया जो देवताओं को नहीं मिला क्योंकि वह मनुष्य और देवता के बीच समता स्थापित करने वाला, मनुष्य और मनुष्य के बीच सख्यभाव स्थापित करने वाला, मनुष्य और प्रकृति के बीच बन्धुभाव स्थापित करने वाला स्थल है। यह अनुभव अपने आप में श्रीकृष्ण का होने की तैयारी बन जाता है। किसी न किसी कोने में से वे निकल आयेंगे, आँखें मूँद लेंगे, पीछे से छकाकर चल देंगे, तरसाकर चल देंगे।

दीपावली पर एक पत्र

प्रिय अनाम बन्धु,

दीवाली-होली पर मेरी जजमानी जागती है और कुछ लिखने के लिए कहती है। बन्धु, तुम बताओ क्या लिखने लायक विषय रह गये हैं! इतनी-इतनी फुलझड़ियाँ छूट रही हैं, कुछ तो तमाशे के रूप में, कुछ आतंक के रूप में, कुछ वैभव के मद के रूप में, कुछ बुद्धि के विवर्त्त के रूप में, दीवाली कहीं दिखती नही। जरूरत से ज्यादा कुछ 'अँजोर' (उजाला) हो गया है। आँखों पर तेज रोशनी की बोछार हो रही है, मैं कुछ क्षणों के लिए रंगमंच पर आ गया हूँ और रंगमंच के केन्द्र में स्थापित कर दिया गया हूँ। मैं सामने की रोशनी के पार देखना चाहता हूँ, पर आकृतियाँ अँधेरे में डूबी दिखती हैं। छोटे-छोटे बल्ब जुगजुगाते दिखते हैं, कहीं अभी-अभी उत्सव के आरम्भ का दीप प्रज्ज्वलित किया गया है, वह नहीं दिखता, बुझ तो नहीं गया।

दीवाली पर इसलिए लिखूँ कि आयात-निर्यात का सन्तुलन कुछ सुधर चला है, आँकड़ों का सच है, साल के अन्त तक क्या होगा आँकड़े जानें या इसलिए लिखूँ कि बाहर से बेशुमार दौलत आ रही है, हिन्दुस्तान के कल-कारखानों में गोल गप्पा तैयार करने के लिए नहीं, आलू-उँगली (फिंगर) तैयार करने के लिए बाहर की दौलत लगायी जा रही है? रुपया तेजी से आ-जा रहा है? या इसलिए लिखूँ कि जिस अनुपात में भीख आ रही है, उसी अनुपात में खर्च कम हो रहा है और उसी अनुपात में उगाही भी कम हो रही है?

आप जानते ही हैं, अर्थशास्त्र का एक ही अर्थ जानता हूँ, अपनी कमाई का अर्थ और वह कभी भी इतना नहीं होता कि मैं उसको कहीं पूँजी बनाकर निवेशित कर सकूँ। उसका अर्थ है खाना खिलाना, चाय-कॉफी पिलाना और बच्चों, नाती-पोतों- नातिनों पर खर्च कर देना। तिजोरी क्या होती है- यह जाना नहीं। बेक

का हिसाब भी रखना नहीं जानता। तो भी जीवन चल रहा है, वैसा कुछ बुरा भी नहीं चल रहा है। क्या दीवाली पर लक्ष्मी की आराधना पर्व पर लिखने का अधिकार मुझे है?

शायद इसलिए है कि सनातनी हिन्दू हूँ, धान्य की राशि पर रात भर घर में दिया जलता था, ऊपर से एक छेददार ढक्कन रखा जाता था, ताकि दिये का काजल सब उसमें इकट्ठा होता जाये, उसी काजल से आँखें, विशेष रूप से बच्चों की, दूसरे दिन आँजी जाती थीं, आँखों की ज्योति बढ़े। लक्ष्मी-गणेश की मूर्तियाँ भी वहीं रखी रहती थीं। कार्तिक की अमावस्या को यह पर्व खरीफ की फसल के बाद पड़ता है। वस्तुतः यह भूदेवी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का पर्व है। इसकी प्रतिच्छवि सुदूर बाली द्वीप में बड़े सुन्दर रूप में दिखायी देती है। धान से भूदेवी या देवीसिरी (श्रीदेवी) की आकृति बनायी जाती है, सिर पर कुमारियाँ इसे छोटे कलश के ऊपर रखकर ले जाती हैं, दूर खेतों तक, साथ-साथ संगीत-नृत्य भी होता है, सब कुछ रचे हुए छन्द में। यह भी कार्तिक में ही मनाया जाता है। हमारे यहाँ अमावस्या का बड़ा महत्त्व है, कहा यह जाता है कि इस दिन जब चन्द्रमा अदृश्य हो जाता है, जब वह सूर्य के प्रकाश में घुल जाता है तो उसकी यह कला अमृता कही जाती है, आत्मोत्सर्ग ही अमृतत्व है। यह प्रकाश तत्त्व के साथ पूर्ण एकाकारता है। इसीलिए दीपावली जहाँ शस्यलक्ष्मी का त्यौहार है, जहाँ गणदेवता को उस लक्ष्मी का गोद लिया हुआ पुत्र मानकर गणेश का त्यौहार है, वहीं वह ज्योतिपर्व भी है। बंगाल में इस दिन काली पूजा होती है। काली की शक्ति मोह-ममता-अज्ञान के संहार की शक्ति है, उनके हाथ में जो तलवार है वह ज्ञान की ही तलवार है। उनके दूसरे हाथ में जो मुंड है, वह अहंकार का ही मुंड है। ज्ञान की यह देवता बड़ी कराल, बड़ी निर्मम लगती है, पर वह भीतर से करुणामयी है। भक्त के अहंकार का नाश, वह भक्त के ऊपर अनुग्रह रूप में करती है।

मुझे इस परम्परा में जनमने और पलने के कारण अधिकार अवश्य है, मैं दीवाली पर लिखूँ। यह याद करने बैठूँ कि पहले ऐसे होता था, पहले उत्सव में प्रदर्शन का भाव नहीं था, सुरुचि थी तो यह मोहासक्ति कही जायेगी। बीत गयी सो बात गयी। अब नये जमाने में यह सब ढोने की क्या जरूरत है। देश खेतिहर नहीं रहा, उद्योगी हो गया, अब शस्यलक्ष्मी, नोटलक्ष्मी हो गयी, गणेश अब मुनीम हो गये, मुनीम की तरह ही कहीं कोने में स्थापित कर दिये गये, लेखाजोखा का काम मशीन ने सँभाला या रोजगार-प्रबन्धतंत्र ने सँभाला, भाषा बदल गयी, भूषा बदल गयी, भाव बदल गया। यह तो मालिकों की कृपा है कि अभी तक लक्ष्मी-गणेश पर अनुग्रह करके उनकी पूजा का कार्यक्रम निभाते आ रहे हैं। वैसे

अब यह सट्टा पर्व है। मैं सोचता हूँ क्या दीपावली श्रीपत्रों और रोजगारियों की इजारादारी है? क्या समृद्धि के दूसरे रूप नहीं हैं? छोटे से घर की सफाई, कूड़ाकरकट के नरक की विदाई, अन्धकार में आलोक को निमंत्रण, मिट्टी के दिये से माटी में उपजने वाली समृद्धि की आराधना, धान की खील के प्रसाद से खिले हुए मन को आस-पड़ोस के बच्चों, प्रियजनों में बाँटना और साथ-साथ सोचना, आज राजा राम की राजगद्दी हो रही है, यह सब अनुमन्य नहीं है?

मानता हूँ, यहाँ शहर में कुछ खास कर नहीं पाता, घर जैसा दिया हुआ है, उसमें कर ही क्या सकता हूँ, कहीं मिट्टी की फर्श नहीं, मोज़ेइक फर्श पर कहाँ से चावल के आटे को हल्दी के साथ घोलकर उसी रंग से पुरइन और कमल की बेल बनायी जा सकेगी? कहाँ दिये रखे जा सकेंगे, दिये का कालिख यहाँ-वहाँ लगेगा, तेल चुएगा, सारी शोभा बिगड़ जायेगी। बस गृहिणी एक सेई (अनाज नापने वाला पात्र) में अनाज भरती हैं, उसी के ऊपर अब भी रात भर जलने लायक तेल भर दिया रखती हैं, उसे ढँक देती हैं। लक्ष्मी-गणेश की मिट्टी की मूर्तियाँ मँगा लेती हैं, धान की खीलें वहाँ रख देती हैं और सन्ध्या समय पूजा करके पर्व मना लेती हैं।

इतना भी मेरा अधिकार बनता नहीं, कारण मेरी जैसी गृहिणियों की संख्या इतनी अल्प है कि मैं समष्टि की ओर से कुछ कह नहीं सकता। पर एक अधिकार बचता है, मैं उन रातों का साक्षी हूँ, जिन रातों में हरसिंगार झरते रहे, झरते रहे, जमीन महकती रही, महकती रही और मैं कमरे से बाहर निकलकर तारों की ओर देखता रहा, देखता रहा कि कहीं सुकवा तो नहीं उगा है, भोर तो नहीं होने जा रही है, और रात बिछुए उतारकर रंगमंच से जाने की तैयारी में तो नहीं है। वे रातें दीपावलियों की प्रतीक्षा करती हैं, मिट्टी की सोंधी गन्ध और धरती के स्नेह तथा कुशल गृहिणी के स्पर्श से ऐंठी बाती के मेल से खिले आलोक की प्रतीक्षा करती हे। दीपावली बच्चों का तमाशा भी है पर बच्चे स्वयं सहज उच्छलता हैं, दीपावली तो सहज आलोक है, मनुष्य के स्निग्ध श्रम का आलोक है। कार्तिक की ओसभीगी रात इसी स्निग्ध आलोक की प्रतीक्षा करती है। दीवाली मने न मने, कहीं न कही विभावरी एक रात पूरी जागने की प्रतीक्षा करती है। मैं उस कार्तिक के निरभ्र आकाश की ओर से आकाशदीपों की प्रतीक्षा करना चाहता हूँ। कार्तिक में अपने भीतर समायी गंगा की ओर से दीपमालाओं की प्रतीक्षा करना चाहता हूँ। दीवाली इन सबकी भी है।

बचपन में दीवाली के वैज्ञानिक महत्त्व समझाये गये थे, दिये जलाने से बरसात के पतिंगे आलोक की ओर खिंचकर स्वाहा हो जाते हैं; वातावरण स्वच्छ हो जाता है पर दादा ... चतुर्वेदी ने 'मरण दीपों का त्यौहार' लिखा

का हिसाब भी रखना नहीं जानता। तो भी जीवन चल रहा है, वैसा कुछ बुरा भी नही चल रहा है। क्या दीवाली पर लक्ष्मी की आराधना पर्व पर लिखने का अधिकार मुझे है?

शायद इसलिए है कि सनातनी हिन्दू हूँ, धान्य की राशि पर रात भर घर मे दिया जलता था, ऊपर से एक छेददार ढक्कन रखा जाता था, ताकि दिये का काजल सब उसमें इकट्ठा होता जाये, उसी काजल से आँखें, विशेष रूप से बच्चों की, दूसरे दिन आँजी जाती थीं, आँखों की ज्योति बढ़े। लक्ष्मी-गणेश की मूर्तियाँ भी वहीं रखी रहती थीं। कार्तिक की अमावस्या को यह पर्व खरीफ की फसल के बाद पड़ता है। वस्तुतः यह भूदेवी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का पर्व है। इसकी प्रतिच्छवि सुदूर बाली द्वीप में बड़े सुन्दर रूप में दिखायी देती है। धान से भूदेवी या देवीसिरी (श्रीदेवी) की आकृति बनायी जाती है, सिर पर कुमारियाँ इसे छोटे कलश के ऊपर रखकर ले जाती हैं, दूर खेतों तक, साथ-साथ संगीत-नृत्य भी होता है, सब कुछ रचे हुए छन्द में। यह भी कार्तिक में ही मनाया जाता है। हमारे यहाँ अमावस्या का बड़ा महत्त्व है, कहा यह जाता है कि इस दिन जब चन्द्रमा अदृश्य हो जाता है, जब वह सूर्य के प्रकाश में घुल जाता है तो उसकी यह कला अमृता कही जाती है, आत्मोत्सर्ग ही अमृतत्व है। यह प्रकाश तत्त्व के साथ पूर्ण एकाकारता है। इसीलिए दीपावली जहाँ शस्यलक्ष्मी का त्यौहार है, जहाँ गणदेवता को उस लक्ष्मी का गोद लिया हुआ पुत्र मानकर गणेश का त्यौहार है, वहीं वह ज्योतिपर्व भी है। बंगाल में इस दिन काली पूजा होती है। काली की शक्ति मोह-ममता-अज्ञान के संहार की शक्ति है, उनके हाथ में जो तलवार है वह ज्ञान की ही तलवार है। उनके दूसरे हाथ में जो मुंड है, वह अहंकार का ही मुंड है। ज्ञान की यह देवता बड़ी कराल, बड़ी निर्मम लगती है, पर वह भीतर से करुणामयी है। भक्त के अहंकार का नाश, वह भक्त के ऊपर अनुग्रह रूप में करती है।

मुझे इस परम्परा में जनमने और पलने के कारण अधिकार अवश्य है, मै दीवाली पर लिखूँ। यह याद करने बैठूँ कि पहले ऐसे होता था, पहले उत्सव मे प्रदर्शन का भाव नहीं था, सुरुचि थी तो यह मोहासक्ति कही जायेगी। बीत गयी सो बात गयी। अब नये जमाने में यह सब ढोने की क्या जरूरत है। देश खेतिहर नहीं रहा, उद्योगी हो गया, अब शस्यलक्ष्मी, नोटलक्ष्मी हो गयी, गणेश अब मुनीम हो गये, मुनीम की तरह ही कहीं कोने में स्थापित कर दिये गये, लेखाजोखा का काम मशीन ने सँभाला या रोजगार-प्रबन्धतंत्र ने सँभाला, भाषा बदल गयी, भूषा बदल गयी, भाव बदल गया। यह तो मालिकों की कृपा है कि अभी तक लक्ष्मी-गणेश पर अनुग्रह करके उनकी पूजा का कार्यक्रम निभाते आ रहे हैं। वैसे

अब यह सट्टा पर्व है। मैं सोचता हूँ क्या दीपावली श्रीपत्रों और रोजगारियों की इजारादारी है? क्या समृद्धि के दूसरे रूप नहीं हैं? छोटे से घर की सफाई, कूड़ाकरकट के नरक की विदाई, अन्धकार में आलोक को निमंत्रण, मिट्टी के दिये से माटी में उपजने वाली समृद्धि की आराधना, धान की खील के प्रसाद से खिले हुए मन को आस-पड़ोस के बच्चों, प्रियजनों में बाँटना और साथ-साथ सोचना, आज राजा राम की राजगद्दी हो रही है, यह सब अनुमन्य नहीं है?

मानता हूँ, यहाँ शहर में कुछ खास कर नहीं पाता, घर जैसा दिया हुआ है, उसमें कर ही क्या सकता हूँ, कहीं मिट्टी की फर्श नहीं, मोज़ेइक फर्श पर कहाँ से चावल के आटे को हल्दी के साथ घोलकर उसी रंग से पुरइन और कमल की बेल बनायी जा सकेगी? कहाँ दिये रखे जा सकेंगे, दिये का कालिख यहाँ-वहाँ लगेगा, तेल चुएगा, सारी शोभा बिगड़ जायेगी। बस गृहिणी एक सेई (अनाज नापने वाला पात्र) में अनाज भरती हैं, उसी के ऊपर अब भी रात भर जलने लायक तेल भर दिया रखती हैं, उसे ढँक देती हैं। लक्ष्मी-गणेश की मिट्टी की मूर्तियाँ मँगा लेती है, धान की खीलें वहाँ रख देती हैं और सन्ध्या समय पूजा करके पर्व मना लेती है।

इतना भी मेरा अधिकार बनता नहीं, कारण मेरी जैसी गृहिणियों की संख्या इतनी अल्प है कि मैं समष्टि की ओर से कुछ कह नहीं सकता। पर एक अधिकार बचता है, मैं उन रातों का साक्षी हूँ, जिन रातों में हरसिंगार झरते रहे, झरते रहे, जमीन महकती रही, महकती रही और मैं कमरे से बाहर निकलकर तारों की ओर देखता रहा, देखता रहा कि कहीं सुकवा तो नहीं उगा है, भोर तो नहीं होने जा रही है, और रात बिछुए उतारकर रंगमंच से जाने की तैयारी में तो नहीं है। वे रातें दीपावलियों की प्रतीक्षा करती हैं, मिट्टी की सोंधी गन्ध और धरती के स्नेह तथा कुशल गृहिणी के स्पर्श से ऐंठी बाती के मेल से खिले आलोक की प्रतीक्षा करती है। दीपावली बच्चों का तमाशा भी है पर बच्चे स्वयं सहज उच्छलता हैं, दीपावली तो सहज आलोक है, मनुष्य के स्निग्ध श्रम का आलोक है। कार्तिक की ओसभीगी रात इसी स्निग्ध आलोक की प्रतीक्षा करती है। दीवाली मने न मने, कहीं न कही विभावरी एक रात पूरी जागने की प्रतीक्षा करती है। मैं उस कार्तिक के निरभ्र आकाश की ओर से आकाशदीपों की प्रतीक्षा करना चाहता हूँ। कार्तिक में अपने भीतर समायी गंगा की ओर से दीपमालाओं की प्रतीक्षा करना चाहता हूँ। दीवाली इन सबकी भी है।

बचपन में दीवाली के वैज्ञानिक महत्त्व समझाये गये थे, दिये जलाने से बरसात के पतिंगे आलोक की ओर खिंचकर स्वाहा हो जाते हैं; वातावरण स्वच्छ हो जाता है पर दादा चतुर्वेदी ने 'मरण दीपों का त्यौहार' लिखा

था तो केवल पतिंगों की सफाई ही वे नहीं देखते थे, ये उनकी आहुति में कुछ ओर अर्थ पाते थे। प्रकाश की ओर खिंचना, प्रकाश में अपने को आत्मसात् कर देना, जीवन को आलोक के लिए विसर्जित कर देना, क्या सफाई मात्र है, क्या उल्लसित उत्सर्ग का अद्भुत परिदृश्य नहीं है? अमावस्या अपने आप में चन्द्र की कलाओ का उत्सर्ग है, उस अमावस्या की रात में मन्त्रसिद्धि इसलिए नहीं होती कि अँधेरा सबसे घना होता है, इसलिए होती है कि अँधेरे से छटपटाहट सबसे तीव्र होती है और प्रकाश सबसे अधिक आत्मीय लगता है, उसकी पुकार सबसे विह्वल होती हे। मै उसी विह्वलता को पुकार लगाना चाहता हूँ कि दीवाली में तुम चुपचाप उतरो, काली रात में लिपटी उतरो और हल्के से इशारे से बल उठो। दीवाली मेरे लिए जगमगाहट ही नहीं, जगमगाहट की तैयारी है, जगमगाहट न कर पाने की कसक भी है, और जगमगाहट पूरा तेल-बाती न जुट पाने के कारण उसके अधूरेपन का विषाद भी है। उस विषाद को भरपूर जीना चाहता हूँ। सारे सपने अधूरे, सारा जीवन अधूरा, सारे काम अधूरे और सारी प्राप्ति अधूरी, सारा उत्सर्ग अधूरा और इन सबकी संपुंजित कचोट कि कैसा जीवन मिला, कितनी कोशिश की पूरा होने की, कितनी विफलता मिली और इसके बावजूद बाती पूरने का, दिया भरने का और उसमें ज्योति भरने का संकल्प अभी भी कुश जल के साथ हथेली में रखा हुआ है। मैं यह सोचता हूँ तो मुझे लगता है यह संकल्प असंख्य-असंख्य लोगो ने ले रखा है। कोई भी संकल्प का जल भूमि पर नहीं गिरता, क्योंकि भूमि ही नहीं दिखायी देती। अपनी भूमि कहाँ गयी?

उस भूमि में अब कम्पन तो होता है, पर स्पन्दन क्यों नहीं होता, कहीं 'उदार रमणीया वसुधा' का वात्सल्य क्यों नहीं उसमें से उपजता? भूमि क्षमा है, उस क्षमा का क्या हुआ? चारों ओर हिंसा, असहिष्णुता और अविश्वास, कैसे इस गरकी हुई भूमि पर विश्वास करें? और यह सोचता हूँ तो सच मानिए दीवाली की सुधि मे होली मचाने का मन हो जाता है। इन सब आशंकाओं को, इन सब चिन्ताओं को झोक देने को मन होता है आग में।

अब ऐसे में दीवाली पर क्या लिखें, दीवालें नारों से पटी हैं, एक-से-एक हिसक, एक-से-एक उग्र और दीवाली मन रही है काली-काली रोशनी की, जिसके मन्द आलोक में केवल भोग होते हैं या अभिसार या फिर गम गलत करने की बेकार कोशिश होती है। हम इन सबसे अलग, हमारे ज्योतिर्मय वर्णो के लिए कही स्थान नहीं, हमारे झीने-सुनहले प्रकाश के लिए कहीं गुंजाइश नहीं। दीवाली के अलावा किसी पर लिखने को कहें, लिखूँगा, दीवाली पर नहीं लिखूँगा।

वसंत की नादानी

मैं समझदार लोगों की सलाह को अनदेखी करके कभी पैदल घूमने नहीं निकलता, निकलता भी हूँ तो मुझे पार्क या उद्यान में घूमना कुछ बड़ा नकली लगता है। इस हवाखोरी में मुझे आनन्द नहीं मिलता, जंगल में घूमना जरूर अच्छा लगता है। पर जंगल है कहाँ। जंगल कुछ कटे, कुछ नहीं भी कटे सुरक्षित हो गये और रक्षकों का महाजाल वहाँ पड़ गया, अभयारण्य पर। वहाँ आदमी का भय, तमाशबीन आदमी का भय भारी पड़ने लगा। रखवाले का भय तो था ही। मुक्त होकर जंगल में घूमना कहाँ होता है क्योंकि जंगल में घूमना अपने में घूमना है। जिनके साथ जंगल में घूमना हुआ है, वे अब नहीं हैं, एकाध हैं तो अब इतने परायँठ हो गये हैं कि जंगल में उन्हें रस नहीं रह गया है। वे सुरक्षित रहना चाहते है। मैं यों तो बहुत घूमता हूँ, पर असली घूमना अब मयस्सर नहीं होता। एक बडा भाई था, उसके साथ घूमना कई बार हुआ, उसके माध्यम से पेड़-पौधों से, चिडियो से जान-पहचान हुई, विजन का दुभाषिया यकायक चला गया।

वसंत आते ही कुछ होता था, दर्द ही सही, अनमनापन ही सही, अब कुछ नही होता। नये संवत्सर की पाती छायावादी, पूर्णकलश के रेखांकन के साथ श्री वृक्ष के साथ भेजने को मन नहीं हुलस रहा है। मैं यह सोचते-सोचते कल रात सोया। रात नींद आयी, देखा कि पार्क में एक बेंच पर बैठ गया हूँ, बड़ी पुरानी जर्जर बेंच है, उस पर बैठते हुए डर लगा, कहीं चरमराकर बैठ न जाय, यही सोचकर बैठने में हिचक रहा हूँ। इतने में एक बहुत ही ऊलजलूल किस्म का आदमी आकर धम से बगल में बैठ गया। मैंने पहचाना नहीं, पर उसने पहचाना, पूछा, तुम यहाँ कहाँ, तुम तो पार्क में आते नहीं। तब मैंने पहचाना, यह तो वसत है, मैंने भी उलटकर पूछा और तुम, तुम भी पद्माकर के जमाने में चाहे आते रहे, पार्क तुम्हें भी तो रास नहीं आता भला आदमी कितना बदल गया है यह न तो

मदनमहीप का बालक लगता है, न तो नये फैशन का बेतरतीब बालों वाला दढ़ियल आधुनिक ही लगता है, न बुंदेलखंडी फाग पहनने वाला फगुहरा ही लगता है, इसकी तो कोई पहचान ही नहीं रह गयी। इतना डरा हुआ है कि इधर-उधर ताकता-झाँकता है, कोई पार्क में बैठने की चोरी पकड़ न ले। मुझे बड़ा अटपटा लगा, ऐसे अलमस्त फक्कड़ आदमी को हो क्या गया है, मैंने डाँटकर पूछा—प्यारे, तुम्हें कौन-सा साँप छू गया है, ऐसे डरे हुए हो। वह धीरे से बोला—जरा धीरे से बोलो, कोई सुन लेगा। कहीं बायें एक झबरा-झबरा-सा आदमी बैठा है, देख न ले किसी पुराने परिचित से बात कर रहा हूँ, और कहीं दायें जो गेरुआधारी बाबाजी निरपेक्ष बैठे दिखते हैं, यह न समझें कि मैंने यहाँ किसी को गुप्त मंत्रणा के लिए बुलाया था।

मैंने यह सुना और सिर धुन लिया। हाय—अब इस देश का वसंत भी ऐसा कायर? मैं चुपचाप वहाँ से उठ गया और तबियत हुई कि इस बगिया को ही उजाड़कर चल दूँ। कैसी बगिया जिसमें वसंत दुबका हुआ सहमा हुआ आकर बैठे और थरथर काँपता रहे।

अनजाने इस उबाल में नींद उभर गयी और मैं वसंत में वापस आ गया, वसंत तो है, ये पलाश जहाँ-तहाँ बेशर्मी से सुर्ख लाल हुए जा रहे हैं, ये आम बिना किसी की परवाह किये बौरा आये हैं, यह कोयल बिना रुके कूकती जा रही है, ये फसलें एक-दूसरे को देख-देख सूखती जा रही हैं, कटने की वेला आ गयी। नहीं-नहीं, वसंत कहीं नहीं है। ये पेड़ नकली हैं, ये फूल नकली हैं, ये आवाजे नकली हैं, ये फसलें भी अवास्तविक हैं। वसंत ने इन्हें नहीं छुआ है। वसंत के किसी डमी ने इन्हें ऐसे तैयार कराया है। मुझे वसंत का नाटक नहीं देखना है।

देशी रियासतों का हिज हाइनेस बना वसंत मुझे नहीं चाहिए, बावजूद इसके कि वसंत कोई भद्र लोग (भला लोग) नहीं है। मुझे उसका अल्हड़ बेपरवाह बानक प्रिय है, क्योंकि वही मेरा उसका पहचाना रूप है। भले ही वह आदिम हो, पर है तो धुनी। हाड़-हाड़ हुए पेड़ की शिराओं में रक्त संचार कराने की क्षमता रखता है, उसके कंठ में ऐसी कसक है जो बहरी हवा को बींध देती है और उसकी आँखें ऐसी रतनार ऐसी मदमाती कि होश में किसी को रहने नहीं देतीं। उसका यह उत्पाती रूप अच्छा लगता है क्योंकि वह उथल-पुथल लाता है, सब कुछ झारकर रख देता है, जो सड़ा-गला है, सूखा है, बीता है, और नयी सृष्टि के लिए पूरे अस्तित्व को मथकर रख देता है। एक-एक को छेड़ता है और अकुला के रख देता है। वह अकुलाहट किसी अज्ञात से घबराहट नहीं है, अज्ञात के लिए उत्पत्ति आकांक्षा है। यही कामतत्व है, यही सृष्टि का सूत्रपात्र है। काम भोगेच्छा नहीं है

भावेच्छा है, वह पाने के लिए नहीं, होने के लिए, जो है, उससे अलग कुछ और होने के लिए है। लता लता न रहकर पेड़ होना चाहती है, व्यक्ति व्यक्ति न रहकर किसी का प्रिय होना चाहता है, किसी के लिए प्रीतिकर होना चाहता है। 'अस्ति' अस्ति न रहकर 'भाति' न रहकर (प्रिय) होना चाहता है।

सद् चित् सद् चित् न रहकर आनन्द होना चाहते हैं, माधव माधव न रहकर राधा होना चाहते हैं, पूरा वास-परिवर्तन कर लेते हैं, बस सलोनी-साँवली आभा राधा नहीं बनने देती, राधा मोर मुकुट धारण करके कृष्ण होना चाहती हैं, परतु अवनंतागी त्रिभंगी नहीं बन पाती। पर होने की इच्छा ही मुख्य है, होना नही, क्योकि होना घटित हो जाय तो फिर इच्छा ही पूर्ण हो जाय, चाह ही चुक जाय, काम ही निवृत्त हो जाय। काम यह नहीं करता, उसका सखा वसंत करता है, कोई भी जो होना चाहता है, वह हो नहीं पाता, पर जो था, वह रह भी नहीं पाता। वसत विस्थापन है। काम स्व की आहुति है।

ये सब धराऊं विचार तह-तह उघरते जा रहे हैं और मैं अपने देशकाल मे अपने को विजड़ित पाता हूँ, एक बदरंग चौखटे में बुरी तरह जैसे जड़ दिया गया हूँ, क्यों इतना ठहराव है, हवा इतनी बदहवास रहती थी, इतनी गुमसुम क्यो है, काल वैशाखी आने वाली है क्या। पीपल की नयी कोंपलें भी इतनी अपने में क्यो समायी हुई हैं।

कैसा यह संकल्प है नयी सृष्टि का जिसमें पूरी ऋतु सबकी रजामंदी मॉगने मे ही इतनी बौनी हो गयी है। अजीब झूला है जो दोनों ओर से कस के रोका हुआ है। कैसी गाड़ी है जो सचमुच गाड़ी हुई है दलदल में। कभी भी वसंत को इतना सतर्क, इतना सावधान और इतना चौकन्ना नहीं देखा। वसंत का तो दूसरा नाम ही जोखिम है, वसंत का फूल है तो चिहलने का जोखिम है, हवा है तो मलय की गध के साथ जहर की लहर पीने का जोखिम है, पेड़ है तो नंगाझोरी का जोखिम हे, पंछी है तो महकीले फूलों के काँटों का जोखिम है, इंसान है तो बेमतलब उदास होने अनमनाने का जोखिम है और जितनी ही सुनहली फसल है, उतनी ही उसके सिर उतरने का जोखिम है, जितना ही घना जंगल है, उतना ही रगड़ लगने और आग लगने का जोखिम है। पर वसंत में कोई किवाड़ बंद नहीं करता, न्यौतता है, आओ सभी जोखिमो आओ, बिना तुम्हारे जीने का स्वाद क्या। फिर आज ही क्यो किवाड़ बंद करके पंचायत हो रही है, रात-दिन पंचायत हो रही है, कुछ फैसला नही हो रहा है, एक नहीं कई-कई पंचायतें हो रही हैं, हर एक पंचायत दूसरी पंचायत के टूटने की प्रतीक्षा कर रही है, दूसरे के टूटने में ही हर पंचायत अपनी समस्या का समाधान देख रही है

वसंत तो दूसरे को जोड़ता रहा है, अपने को तोड़ने की कीमत पर, तोडने का नया धंधा कब से शुरू किया है। ऐसा लगता है वसंत कुछ ज्यादा सयाना हो गया है, वह अल्हड़ नहीं रहा, उसने कुछ गुण सीख लिये हैं नाट्य-कुशल पावस से, उसने कुछ घात सीखे हैं खुले आसमान की चुप्पी से। तभी तो जो नहीं चाहते वह घट रहा है, जिसका घटना चाहते हैं वह नहीं घट रहा है। दुर्घटनाओं पर पाबदी नही है, केवल सुघटनाओं पर पाबंदी है।

पहले भी दरबारी वसंत में कुछ चेरियाँ होती थीं, पर वसंत की बयार उन्हे सहेली बना देती थी और इस नये वसंत की ऐसी मार कि सहेली ही चेरी हो गयी है, उसका समय इधर का उधर त्रासदी में ही जाता है। और धीरे-धीरे प्राणों की प्राण सखी पर से भी विश्वास उठता जा रहा है। अविश्वास से उबरने के लिए वसत माँगा था, हे दई तुमने कैसे 'विसासी' वसंत दिया, कैसा भितरघाती मौसम दिया।

इतने में भीतर से आवाज आती है, कुएँ से बाहर झाँको, कहाँ-कहाँ वसत अँगड़ाई ले रहा है। लजाकर बाहर देखता हूँ, तो वसंती बयार वह तो रही है, बडे-बडों के मौर उतर रहे हैं, बस इतना ही है। पर बयार सुनहरी वसंत की है या एक सर्वग्रासी भूख की है जो उपभोक्ता अपसंस्कृति की उपजायी है, भूख अनाम अनचाही वस्तु के लिए, खाने से अधिक पाने और हथियाने के लिए, खाया न जा सके तो फेंकने के लिए। इस भूख का बड़ा जाल है, उस जाल में काव्य कला सगीत मजहब अध्यात्म क्या-क्या नहीं है। व्यक्ति की गरिमा की बात के लिए भी कहीं व्यक्ति की गरिमा का लासा लगाने वाला शिकारी भी छिपा बैठा है, उसी दुकान पर नये पंछी आये। वसंत जगा नहीं पूरी तरह, उसने अँगड़ाई ली है, वह जगता तो अफ्रीका के देशों को उपभोग की दासता में बाँधकर कर्जदार नहीं बनाया जाता और कर्जदार के मत्थे आणविक कचरा नहीं डाला जाता, कर्ज की शर्त के रूप में। वह पूरी तरह जगता तो मृत्यु के सौदागर देशों में भी ज्वार आता, डूब जाते मृत्यु कारखाने, डुबो दिये जाते वे दलाल जिनके बिना कारखानों का माल बिकता नहीं।

इसका अर्थ हुआ कि वसंत खुल के नहीं बह रहा है। और सिर्फ इसलिए कि सब कुछ तो बंद है, अज्ञात भय से विचित्र सुरक्षा की खोली में आदमी और आदमी का परिवेश। सब फैलते हुए जहर से बचने के लिए, भीतर ही भीतर स्वय जहर हो रहा है। जो खुलकर बँटता नहीं है, वही जहर हो जाता है। आज बाँटने की दया तो है पर बँटने का मन नहीं है और बँटना नहीं, बँटकर बगरना ही वसत है यही प्रीति है यही ऋतुमगल है यही राग-बोध है रस है वासती रास है

दीया न बाती, दीवाली

धार्मिक उत्सव में दुर्भाग्यवश श्रद्धा से अधिक उत्साह और दर्प का प्रदर्शन पिछले कुछ वर्षों से शुरू हो गया है। कार्तिक का महीना बहुत पहले वर्ष का अन्तिम महीना होता था और यह कार्तिक की अमावस्या को समाप्त होता था। उस समय वर्ष शुक्ल पक्ष के प्रतिपदा से शुरू होता था और अमावस्या को महीने का अंतिम दिन होता था। उसी की स्मृति आज भी अमावस्या के लिए प्रयुक्त तीस संख्या बनी हुई है। उस समय मार्गशीर्ष अर्थात् अग्रहायण वर्ष का पहला महीना होता था। अग्रहायण, जो हायन—अर्थात् वर्ष का अगुआ हो। श्रीकृष्ण ने 'गीता' में अपने को वर्ष के महीनों में चैत्र नहीं बतलाया, मार्गशीर्ष ही बतलाया—'मासाना मार्गशीर्षोहम्'। शरद् ऋतु भी वर्ष की अंतिम ऋतु थी, एक तरह से वर्ष का वह परिपाक थी। वैदिक भाषा में इसीलिए शरद् को वर्ष पर्याय भी माना गया है। उस शरद् में सब कुछ धवल-उज्ज्वल होता है—आकाश उज्ज्वल, चाँद उज्ज्वल। चाँदनी में नहाकर उज्ज्वलतर इस ऋतु में जिस शक्ति की उपासना होती है वह शक्ति क्रमशः काली, लाल और उज्ज्वल हो जाती है। उसका सबसे निखरा हुआ रूप अंबिका का है। इस परिवेश में मनुष्य से अपेक्षा यह की जाती है कि वह अभी अपनी भावनाओं को निखार ले, चित्त को शुद्ध कर ले और अपने को उज्ज्वलता के पारावार में भरने के लिए तैयार कर ले। वह अमावस की रात के अंधकार को नकारने के लिए अपने इस पार्थिव शरीर को ही दीया बना ले, इसमें अपने भीतर की समस्त करुणा को बाती के रूप में पूर ले, अपना स्नेह उड़ेलकर उसे भर दे। उसे-उसकी दीपशिखा अपनी तितिक्षा से बार ले। अपने छोटे से दीये को सत्य के दीवट पर रख दे। साधारण मनुष्य का साधारण प्रयत्न भी असाधारण बन जाता है। उसे न ऐश्वर्य से नापा जा सकता है, न किसी बड़प्पन के अहंकार से। यह ध्यान देने की बात है कि दीया केवल घर के बाहर देहली पर नहीं रखा जाता

दरवाजे पर नहीं रखा जाता, आँगन में नहीं रखा जाता; घर से दूर—घूर की ढेरी तक पर रखा जाता है। जहाँ पशु पलते हैं वहाँ रखा जाता है, घनी छाया वाले पीपल के पेड़ के नीचे रखा जाता है, केवल आँगन की तुलसी के चौरे पर ही नही। गाँव-मन का यह दीया माटी का होता है और इसमें कुम्हार के हाथ का स्पर्श होता हे। यह धर्म की चाक पर घूमते-घूमते आकृति लेता है और यह न आकाश के तारो से होड़ लेता है, न किसी धन्नासेठ के दरवाजे की सजावट से होड़ लेता है। वह तो अपने बाहर और भीतर के अंधकार से होड़ लेता है। ऐसा दीया या तो घर के छोटे-छोटे बच्चे रखते हैं और अपनी कमर में मिट्टी की घंटियाँ बाँधकर उन्हें बजाते हुए रखते हैं अथवा चूड़ियाँ खनकाती हुई घर की बहू या बेटियाँ रखती हैं। घर के बड़े-बूढ़े देवी के स्थान पर दीया रखने जाते हैं, जहाँ दूर कोई टेकरी है वहाँ रख आते हैं। दीया रखने के पीछे अभिप्राय केवल एक है—अंधकार को नकारना।

आज की शहर की जगमग दीवाली की दीया-बाती वाली दीवाली से तुलना करते हैं तो सबसे बड़ा अंतर यह दीखता है कि जहाँ ये मिट्टी के दीये जलते हुए भी किसी की आँखों में जलन नहीं पैदा करते वहाँ शहर की विद्युत्-दीपित दीवाली आँखों की चुभन और जलन बन जाती है। उस दीवाली में कभी-कभी ऐसा लगता हे, आँखें देख नहीं पायेंगी। सारा-का-सारा प्रकाश अंधकार बन जाता है। ऐसे प्रकाश को पैदा करने के लिए ठेकेदार बुलाए जाते हैं और प्रकाश श्रम का नहीं, पैसों का खेल हो जाता है। केवल प्रकाश के प्रदर्शन की ही बात थी तो कुछ गनीमत थी, पर दीपावली के साथ-ही-साथ जो कनफोड़ पटाखे छूटते हैं, जो खतरनाक आतिशबाजियाँ छूटती हैं, उनसे जो गंधक की गंध सारे वातावरण मे फैलती है वह थोड़े से नवधनिकों के नशे को चढ़ाने में भले ही उद्दीपन हो, पर साधारण आदमी के भीतर अंधकार से जूझने का संकल्प कुंठित होने लगता है। क्या यह उत्सव है? क्या है? सबको आमंत्रित करने वाला, सबका सहयोग मानने वाला, सबसे बचाकर थोड़ी-सी खील अपने लिए रखने वाला भाव-धर्म है? क्या धर्म का अर्थ केवल अपनी सत्ता का प्रदर्शन है, अपने ऐश्वर्य का असभ्य प्रदर्शन है और यह सब क्या एक तरह से दूसरे समाज के लिए आक्रामक नहीं है? हम देख रहे हैं, जिन समाजों में उत्सव के नाम पर कुछ विशेष मनाया नहीं जाता है उन समाजों के भी आक्रामक उत्सव मन रहे हैं। और उत्सव अब सबकी शिरकत वाले जुलूस न रहकर ललकार बनते जा रहे हैं। ऐसे उत्सवों से भले ही लोग मानें कि हम धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति कर रहे हैं, पर हमारी दृष्टि में यह जो कुछ भी हो, धर्म नहीं है। धर्म होता तो पहले हृदय से अहंकार निकालता, उसमें विनय भरता और अपने चारों ओर केवल देखता अपने और दूसरे के भेद से

दीया न बाती, दीवाली

क उत्सव में दुर्भाग्यवश श्रद्धा से अधिक उत्साह और दर्प का प्रदर्शन
वर्षों से शुरू हो गया है। कार्तिक का महीना बहुत पहले वर्ष का
ना होता था और यह कार्तिक की अमावस्या को समाप्त होता था। उस
शुक्ल पक्ष के प्रतिपदा से शुरू होता था और अमावस्या को महीने का
होता था। उसी की स्मृति आज भी अमावस्या के लिए प्रयुक्त तीस
हुई है। उस समय मार्गशीर्ष अर्थात् अग्रहायण वर्ष का पहला महीना
अग्रहायण, जो हायन—अर्थात् वर्ष का अगुआ हो। श्रीकृष्ण ने 'गीता'
वर्ष के महीनों में चैत्र नहीं बतलाया, मार्गशीर्ष ही बतलाया—'मासाना'
[' । शरद् ऋतु भी वर्ष की अंतिम ऋतु थी, एक तरह से वर्ष का वह
। वैदिक भाषा में इसीलिए शरद् को वर्ष पर्याय भी माना गया है। उस
कुछ धवल-उज्ज्वल होता है—आकाश उज्ज्वल, चाँद उज्ज्वल। चाँदनी
उज्ज्वलतर इस ऋतु में जिस शक्ति की उपासना होती है वह शक्ति
री, लाल और उज्ज्वल हो जाती है। उसका सबसे निखरा हुआ रूप
है। इस परिवेश में मनुष्य से अपेक्षा यह की जाती है कि वह अभी
नाओं को निखार ले, चित्त को शुद्ध कर ले और अपने को उज्ज्वलता
में भरने के लिए तैयार कर ले। वह अमावस की रात के अंधकार को
लिए अपने इस पार्थिव शरीर को ही दीया बना ले, इसमें अपने भीतर
करुणा को बाती के रूप में पूर ले, अपना स्नेह उड़ेलकर उसे भर दे।
दीपशिखा अपनी तितिक्षा से बार ले। अपने छोटे से दीये को सत्य के
ख दे। साधारण मनुष्य का साधारण प्रयत्न भी असाधारण बन जाता
श्वर्य से नापा जा सकता है, न किसी बड़प्पन के अहंकार से। यह
ात है कि दीया केवल घर के बाहर देहली पर नहीं रखा जाता,

दरवाजे पर नहीं रखा जाता, आँगन में नहीं रखा जाता; घर से दूर—घूर की ढेरी तक पर रखा जाता है। जहाँ पशु पलते हैं वहाँ रखा जाता है, घनी छाया वाले पीपल के पेड़ के नीचे रखा जाता है, केवल आँगन की तुलसी के चौरे पर ही नही। गॉव-मन का यह दीया माटी का होता है और इसमें कुम्हार के हाथ का स्पर्श होता है। यह धर्म की चाक पर घूमते-घूमते आकृति लेता है और यह न आकाश के तारो से होड़ लेता है, न किसी धन्नासेठ के दरवाजे की सजावट से होड़ लेता है। वह तो अपने बाहर और भीतर के अंधकार से होड़ लेता है। ऐसा दीया या तो घर के छोटे-छोटे बच्चे रखते हैं और अपनी कमर में मिट्टी की घंटियाँ बाँधकर उन्हें बजाते हुए रखते हैं अथवा चूड़ियाँ खनकाती हुई घर की बहू या बेटियाँ रखती हैं। घर के बडे-बूढ़े देवी के स्थान पर दीया रखने जाते हैं, जहाँ दूर कोई टेकरी है वहाँ रख आते हैं। दीया रखने के पीछे अभिप्राय केवल एक है—अंधकार को नकारना।

आज की शहर की जगमग दीवाली की दीया-बाती वाली दीवाली से तुलना करते हैं तो सबसे बड़ा अंतर यह दीखता है कि जहाँ ये मिट्टी के दीये जलते हुए भी किसी की आँखों में जलन नहीं पैदा करते वहाँ शहर की विद्युत्-दीपित दीवाली ऑखों की चुभन और जलन बन जाती है। उस दीवाली में कभी-कभी ऐसा लगता है, आँखें देख नहीं पायेंगी। सारा-का-सारा प्रकाश अंधकार बन जाता है। ऐसे प्रकाश को पैदा करने के लिए ठेकेदार बुलाए जाते हैं और प्रकाश श्रम का नही, पैसों का खेल हो जाता है। केवल प्रकाश के प्रदर्शन की ही बात थी तो कुछ गनीमत थी, पर दीपावली के साथ-ही-साथ जो कनफोड़ पटाखे छूटते हैं, जो खतरनाक आतिशबाजियाँ छूटती हैं, उनसे जो गंधक की गंध सारे वातावरण मे फैलती है वह थोड़े से नवधनिकों के नशे को चढ़ाने में भले ही उद्दीपन हो, पर साधारण आदमी के भीतर अंधकार से जूझने का संकल्प कुंठित होने लगता है। क्या यह उत्सव है? क्या है? सबको आमंत्रित करने वाला, सबका सहयोग मानने वाला, सबसे बचाकर थोड़ी-सी खील अपने लिए रखने वाला भाव-धर्म है? क्या धर्म का अर्थ केवल अपनी सत्ता का प्रदर्शन है, अपने ऐश्वर्य का असभ्य प्रदर्शन है और यह सब क्या एक तरह से दूसरे समाज के लिए आक्रामक नहीं है? हम देख रहे हैं, जिन समाजों में उत्सव के नाम पर कुछ विशेष मनाया नहीं जाता है उन समाजों के भी आक्रामक उत्सव मन रहे हैं। और उत्सव अब सबकी शिरकत वाले जुलूस न रहकर ललकार बनते जा रहे हैं। ऐसे उत्सवों से भले ही लोग माने कि हम धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति कर रहे हैं, पर हमारी दृष्टि में यह जो कुछ भी हो, धर्म नहीं है। धर्म होता तो पहले हृदय से अहंकार निकालता, उसमें विनय भरता और अपने चारों ओर केवल देखता अपने और दूसरे के भेद से

स्वयं को ऊपर उठाता। अपने इलाके में विवाह का एक गीत होता है—

कथी के दीयना कथी के तेलवा जरेले सारी राती
सोने के दीयना रुपे के बाती
सत्त के तेलवा जरेले सारी राती।

किसका दीया, किसकी बाती, कौन-सा तेल सारी रात जलता है--सोने का दीया, रूप की बाती, सत्त का तेल सारी रात जलता है। अब तो न दीया है, न बाती है; तेल की कोई चर्चा ही नहीं। हाँ, केवल कुछ सुंदर कलात्मक दीपाधार के शिल्प हैं, रंग-बिरंगी मोमबत्तियाँ हैं, उसमें भी कुछ मेहनत लगेगी। केवल रंग-बिरंगे बल्ब हैं और उनसे बनने वाली तरह-तरह की आकृतियाँ हैं। ये केवल घर के ऊपर टँगी रहती हैं, घर के भीतर घर के भीत से उनका कोई संबंध नहीं होता, क्योंकि घर के भीतर अगर बिजली के बल्ब टाँग दिए जाएँ तो कीड़ों का डर है। घर के भीतर तो स्निग्धता की रोशनी का फरेब है। और उस फरेब में सारी रात चलने वाला जुए का खेल है, ऐसा दीया, लगता है, दीये तो जल नहीं रहे। दीवाली धाँय-धाँय जल रही है और कहीं शोर में भी दूर से उत्सव के भाव की सिसकियाँ सुनाई पड़ रही हैं। सोचना पड़ता है कि हम जीवित हैं या नहीं।

दिये जलाने का अर्थ

हम कार्तिक की अमावस को दीपावली तो मनाते ही मनाते हैं, हर खुशी के मौके पर दिये जलाकर अपना उल्लास प्रकट करते हैं। कभी-कभी तो कुछ अतिरेक भी करते हैं। रोशनी की पाँत से हमें सन्तोष नहीं होता, हम चकाचौंध के लिए फुलझड़ियाँ छोड़ते हैं, अकेले प्रकाश के प्रदर्शन से मन नहीं भरता तो पटाखे छोडते है, आसपास के लोगों तक खुशी की आवाज पहुँचाना चाहते हैं, पर सोचने की बात है कि वैभव का यह प्रदर्शन किसके लिए है और यह वैभव का प्रदर्शन है भी? सही अर्थ में वैभव है क्या? वैभव क्या आधिपत्य के लिए है, धन क्या दूसरों को अधीन बनाने के लिए है? दूसरों को, कम धनवान लोगों को हीन अनुभव कराने के लिए है? सम्पन्नता, समृद्धि, लक्ष्मी, श्री, शोभा, उर्वरता, सौन्दर्य ये सभी शब्द हमारी संस्कृति में पर्याय हैं और लक्ष्मी देवी के रूप में ये सभी समाहित हैं। कार्तिक मे ही दूर वाली द्वीप में देवीसिरी (श्रीदेवी) का उत्सव होता है। स्त्रियाँ आगे-आगे, पुरुष गाजे-बाजे के साथ पीछे देवीसिरी की पूजा के लिए नये परिधान पहनकर निकलती हैं, सिर पर पूर्ण कलश रहता है, कलश के ऊपर धान की नयी बालियाँ रहती हैं, ललित गति से बड़ी कलात्मक भंगिमा में धान के खेत की ओर बढ़ती हे, देवीसिरी वही तो हैं न! बीच-बीच में वे मधुर स्वर में गीत भी गाती रहती हे। लाउडस्पीकर वहाँ उस गीत की मधुरता नष्ट करने के लिए नहीं है, न ऐसे शोर करने वाले बाजे ही हैं, जिनसे लगे कि कहीं आक्रमण करने जा रहे हैं। कहीं विशेष सजावट नहीं, प्राकृतिक फूलों-पत्तियों से कहीं-कहीं बीच-बीच में वन्दनवार या तोरण, पर सब मिलाकर एक छन्द में रचे हुए। इसे हम वैभव कहें या नहीं। इसे धरती (क्योंकि वही हमारे खेतिहर देश की भी श्रीदेवी हैं, विष्णुपत्नी हैं) के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन कहें या दीपावली के नाम पर हमारे शहरों में जो हो रहा है, उसे कहें धन का शायद गलत ढग से कमाये धन का ऐसा भोंडा और

विज्ञापन हमारी श्रीदेवी को बहुत चुभता होगा।

हमारी परम्परागत दीवाली की पूर्व रात्रि नरक चतुर्दशी है। अपने भीतर और बाहर के नरक से उद्धार की पहले चिन्ता करते हैं, कूड़े-कचरे साफ करते हैं, मिट्टी के घर हैं तो उनकी नयी लिपाई करते हैं, पक्के हैं उनकी सफेदी करते हैं, घर के बाहर गांठ की सफाई करते हैं, जहाँ कूड़े-कचरे गांव के बाहर जमा करते हैं कि वे फिर खाद बन जायें, वहाँ दिये जलाते हैं। पशुओं को नहलाते हैं, उनको टीका करते हैं। मृत्यु के देवता यम के लिए दिये जलाते हैं कि वे सही-सचाई की रोशनी को राह दिखलाएँ, मृत्यु के द्वार से हम पहुँचना चाहते हैं अमरत्व तक। अमरत्व का अर्थ अमृत पीकर जीवन की अवधि को बढाना नहीं है, उसका अर्थ है इसी जीवन की पूर्णता का अनुभव करना, ऐसी पूर्णता का अनुभव करना, जो छलकती चलती है, अपने में नहीं भरती, दूसरों को भरती चलती है। इसीलिए अमृत के साथ हमारे मन में हमेशा कलश का बिम्ब रहता है। अमृत के मथे जाने के साथ-साथ विष के निकलने की कहानी या अमृत के साथ-साथ स्वास्थ्य-आरोग्य के उपाय सोचने वाले धन्वन्तरि का ध्यान, उसी के साथ लक्ष्मी का उद्भव, ये सब एक ही कड़ी है। सम्पन्न जीवन में यह सब है, जहर पीना भी है, स्वस्थ-नीरोग रहना है, शोभा बढाने वाला होना है, दूसरों की चिन्ता करने के लिए उत्कर्ष करने वाला होना है।

श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए सूरदास ने कहा है :

सोभा सिन्धु न अन्त लही री।
नन्द भवन भरपूर उमगि कर, ब्रज की बीथिन जाति बही री।

श्रीकृष्ण की शोभा की नदी कहाँ रुकेगी, पता नहीं चलता, नन्द के भवन मे भरपूर भरकर वह ब्रज की गलियों में बही जा रही है, सब उसमें सराबोर होते जा रहे हैं, श्रीकृष्ण की शोभा तो सबको आप्लावित करने के लिए है, कोई भी अपनी निजता में संकुचित न रह जाये, सब सब हो जायें, इसीलिए तो श्रीकृष्ण का आविर्भाव है और उनके साथ-साथ अपूर्व सौन्दर्य, सेवा, सौष्ठव, माधुर्य और समर्पित प्यार की अधिदेवता राधा का आविर्भाव है।

जिस लक्ष्मी के अवतरण की हर साल हम कामना करते हैं, वह लक्ष्मी ऐसे के प्यार से जुड़ी है, जो व्यापक है, विष्णु है। जो विराट है और साथ ही जो याचक है, बहुत छोटा है, जो सूर्य देवता का रूप होता हुआ भी घनश्याम है। शायद प्रकाश का ऐसा सघन रूप है, जिस पर आँखें ठहरती नहीं, आँखें झिप जाती है। बस घनी श्यामलता ही दिखाई पड़ती है, जो बड़ा सुन्दर है, बड़ा मोहक है, पर बड़ा निर्मोही है, जो सब छोटी-छोटी मोह-ममताओं को तोड़े बिना नहीं रहता जो निपट अकिंचन है जो अलग-अलग में अलग-अलग भूमिकाएँ निभाते हुए राम

के रूप में वन में निर्वासित होता है, निर्वासित होकर उपेक्षितों का नायक होता है, वह आसुरी ऐश्वर्य के, अहंकार के ऊपर, तकनीकी विकास की उस राजधानी के ऊपर, जिसमें हवा-पानी-आग-रोशनी सभी कैद हैं, सभी नियंत्रित हैं, विजय प्राप्त करता है तो सारा श्रेय देता है वानरों-भालुओं को, जो उसके साथ हो लेते हैं, वही विष्णु अपने पूर्णतम अवतार में निपट अकिंचन हो जाते हैं, जेल में जनमते है, ग्वालों के बीच बचपन बिताते हैं, दूसरों को राजगद्दी पर बिठाते हैं, दूसरों को रथ पर चढ़ाते हैं, खुद रथ हॉकते हैं, जो युधिष्ठिर के यज्ञ में अतिथियों के पाँव पखारते है, जूठी पत्तल बटोरते हैं, जो अध्ययन काल में मालवा के जंगलों में जलाने की लकड़ी बटोरते हैं और बरसात की अँधेरी रात पेड़ों की डालियों पर काटते हैं। ऐसे निस्संग के साथ ही लक्ष्मी की शोभा है।

हमारे गाँवों में दीवाली का अर्थ था—मिट्टी में निहित प्रकाश के आधान की शक्ति का ध्यान, मिट्टी के खिलौनों में मनुष्य की रचनात्मक प्रतिभा का प्रस्फुटन और अमावस की काली रात को नकारने का संकल्प, पर इस संकल्प में बडी विनम्रता थी, बड़ी उदारता थी, जो धान की खीलों के साथ सबमें प्रसाद रूप मे बँटती थी।

ठीक है, औद्योगीकरण, तकनीकीकरण और शहरीकरण हो जाने के बाद हमारा ध्यान इन सबसे खिंच गया है, अंधकार बाहर से दुबककर हमारे भीतर कहीं छिप गया है, कहीं चोर भीतर पैठ गया है, बाहर तो सब जगह रोशनी का सैलाब है, पर वह टिमटिमाते दियों का गाँव, वह झिलमिलाते नक्षत्रों का गॉव, वह मिट्टी की घंटियों या अधिक-से-अधिक काँसे की घंटियों का गाँव, वह खील-बतासों का गॉव, वह सिन्दूर तिलकित गउओं-बछड़ों का गाँव इतना अप्रासंगिक नहीं हुआ है। खास करके आने वाले एक नये समय की देहली पर जब मनुष्य का ही नहीं, सम्पूर्ण जीवन का अस्तित्व कई प्रकार के खतरों के कगार पर खड़ा है। आदमी की मुश्किल यह है कि उसका काम प्रतीक के बिना नहीं चलता और अकेले प्रतीक से भी नहीं चलता। दिया एक साथ कई बातों का प्रतीक है, प्रकाश का, ज्ञान का, समझदारी का, स्नेह से भरकर अपने को जलाकर दूसरों को आलोक देने का, सुन्दर चेहरों की मुस्कराहट को नयी आभा देने का और भीतर के उल्लास का कि हम अपने परिश्रम से जो प्राप्त कर सके हैं, उससे कितनों का पेट भरेगा, पर जब प्रतीकार्थ भूलकर हम सम्पन्नता का भोंडा प्रदर्शन करने लगते हैं और लोगो की ऑखों में, लोगों के कानों में चुभने लगते हैं, तब उस गाँव-घर की लक्ष्मी याद आती ही आती है।

यहाँ निश्चय ही टोका जा सकता है कि विश्व की अर्थव्यवस्था बदल गई

है, अब लक्ष्मी तिजोरियों में सुरक्षित नहीं रहती, बिना मुद्राकोष के किसी देश का जीवन चल नहीं सकता। अपने बल पर कोई देश विकास की मंजिल तक पहुँच नहीं सकता, खेती को भी उद्योग बनाना होगा, पूरे समाज को उद्योग (इंडस्ट्री) के रूप में देखना होगा। मनुष्य-मनुष्य के बीच नया रिश्ता बना है। एक पूँजी लगाता है, दूसरा उत्पादन करता है और उसके एवज में मजूरी पाता है, एक नियंत्रक है, दूसरा नियंत्रित है, उस रिश्ते को मानकर चलना होगा। और भी प्रश्न उछाले जा सकते हैं, आधुनिक होने का अर्थ ही है श्रद्धा खोना, विश्वास खोना, मूल्यों को तोडना, उस सबसे छुटकारा पाना, जो हमें किसी परम्परा से जोड़े हुए है। यह सब सिर आँखों पर। देखना है हुआ क्या है। यह सही है कि गाँवों तक खुशहाली के कुछ सबूत माने जाने वाले पहुँच चुके हैं। सड़कें, पगडंडियों और बैलगाड़ी के रास्तो का स्थान ले चुकी हैं, ईंटों की चिमनियाँ पहुँच चुकी हैं। छप्पर अब पक्की छत बनने की लालसा में उजड़ी पड़ी हैं, बिजली की रोशनी भी कुछ सही, पर ज्यादातर गलत रास्तों से पहुँच चुकी है, सिंचाई के साधन फैल चुके हैं, इतने कि कुछ गहरे कुएँ गर्मियों में सूखने लगे हैं। ग्राम प्रधान के यहाँ ही सही, टी.वी. सेट पहुँच चुका है और उसके साथ मार-धाड़ के बीच मोहक ऐश्वर्य के सपने पहुँच गये हैं कि सेठ की लड़की से शादी के लिए रिक्शा चलाने में बड़ा सुख है। यही नहीं, साक्षरता भी कागज पर ही सही, पहुँच गई है, वाचिक सांस्कारिक शिक्षा जाकर कहीं दुबक गई है। आटे की चक्की, चावल कूटने की मशीन, पंपिंग सेट, ट्रैक्टर ये सब भी पहुँच चुके हैं, पर देवीसिरी कुछ सहम गई है। अब थकान गीतों से नहीं निवरती, पैसे से निवरती है, अब भोजन प्यार से स्वाद नहीं पाता, कुछ चालू रेडीमेड मसालो से स्वाद पाता है। अब बाग लगाना पुण्य नहीं है, धन्धा है। अब झाड़ू लेकर सुबह उठने वाली बहू की पाजेब, आँगन में धान कूटते समय बहू की चूड़ियों की झनकार, चक्की के साथ साँसें ले-लेकर उठने वाले गीतों की स्वर-लहरी का स्थान एक जैसे शोर ने ले लिया है। चलो, यह भी मंजूर। विश्व बैंक से, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष से धन लेकर सम्पन्न हो जाना और धन का कुछ हाथों में, कुछ घरो मे बढते जाना, यह भी स्वागत योग्य, परन्तु कुछ सवालों के जवाब तब भी नही मिलते। यह कैसा विकास कि अपना सड़ा जहरीला कचरा (जो खाद भी नही बनता, क्योंकि उसमें जैव कुछ है ही नहीं, जो है, वह जीव का विनाश ही विनाश है), मदद की शर्त के नाम पर अविकसित देशों के तटवर्ती समुद्र को सौंपा जाय। यह कैसा विकास है कि समृद्धि मारक अस्त्र-शस्त्रों के व्यापार से और मृत्यु के खेल के लिए कम युद्ध शक्ति वाले देशों को भिड़ाने की राजनीति (या सही शब्द कहे, कुचाल से) बढे और उस समृद्धि के बल पर कम विकसित देश बराबर कम

विकसित बने रहें। यह कैसा विकास जिसे अनापशनाप उपभोग की मात्रा से नापा जाए, जीवन की गुणवत्ता से, जीवन की परितुष्टि से न नापा जाए! यह कैसी तकनीकी जो समय तो बचाए और आदमी को मनोरंजन के लिए भी संवादहीन न रहने दे, उसके लिए भी तकनीकी जाल खड़ा कर दे! यह कैसा मानव संसाधन का नियोजन कि मनुष्य सोचना भी बन्द कर दे, सोचने का भार उन लोगों पर छोड दे, जो सोचने की मशीन बना रहे हैं। अपने देश की ही बात करें, कर्ज की मै पीने मे मरना कोई गुनाह नहीं, पर कर्ज पटाने की बात कौन करे, कर्ज पर सूद देने के लिए भी कर्ज ले, यह कैसा नशा है! खैर, वह भी सही, पर कर्ज का सूद भी दे, कर्ज देने वाले के कहे अनुसार विकास का अपना रास्ता भी चुने, पर ऐसा भी क्या, जो सहज मानव श्रम से किया जा सकता है, जिसमें विविधता और रस हो सकता है, उसको दरकिनार करके कारखानों में बना, पोलीथीन में रखा खाद्य कई गुना दाम में लोगों पर विज्ञापनों के बल पर लाद दिया जाए! निलहे गोरों ने ईस्ट इंडिया कपनी के समय से जो नील की खेती कराने के नाम पर उत्तरी बिहार में दादनी (अग्रिम ऋण) दे-देकर किसानों को तबाह करना शुरू किया था और उसके खिलाफ उपनिवेशवादी गोरों की ध्वंसक शक्ति का उत्तर देने की कला ईजाद करने वाले महात्मा गांधी ने चम्पारण आंदोलन शुरू किया (वही स्वतंत्रता के संघर्ष का नया तेजस्वी अध्याय हुआ) उस निलही दरिद्र मनोवृत्ति से आज कर्ज देने की मनोवृत्ति में गुणात्मक अन्तर क्या है?

कुछ और प्रश्न उठते हैं। इतिहास को पीछे नहीं लौटा सकते, यह मानकर भी क्या इतिहास की नियति गड्ढे में ही जाना है, क्या खतरे को बिल्कुल सामने देखकर अपने को सँभालने में कुछ आधुनिकता कम हो जाती है? पश्चिम मे आधुनिकता के नाम पर बहुत-सी मानी हुई चीजों के बारे में सन्देह उठने लगा है, हालाँकि अब भी वहाँ का गर्वस्फीत व्यक्ति कितना भी प्रबुद्ध क्यों न हो, यह नही सोचता कि अमेरिका का आणविक कचरा अफ्रीका के मत्थे पर फेंकने से अन्त मे नुकसान अमेरिका का भी होगा। अपने वातावरण को प्रदूषण-मुक्त रखकर दूसरो के प्रदूषण के बारे में निश्चिन्त हो जाना उनके लिए भी विनाशकारी होगा। आज नहीं तो कल या परसों (क्योंकि धरती, आकाश, हवा, पानी, धूप किसी की जादू की पिटारी में बन्द नहीं हो सकेंगे)। संपूर्ण जीवन एक है। दूसरे ग्रहों पर बस्ती बन भी जाय तो भी मनुष्य जब तक जीवन के स्वभाव को नहीं समझता, तब तक अपने योग की अन्धता में अपने को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में वन काटकर, पर्वत काटकर, पशु-पक्षियों को मारकर, निर्बल मनुष्यों को भी समाप्त करके प्रेत ही होकर रहेगा ये सभी सवाल केवल की रक्षा से जुड़े सवाल

नहीं हैं, क्योंकि निरी मानवता कुछ होती नहीं (पश्चिम के उस मनुष्य-केन्द्रित तथाकथित महाभाव का गुब्बारा फूट चुका है), वह सम्पूर्ण होती है, सम्पूर्ण जीवन चक्र से जुड़कर, अकेले मनुष्य के अधिकार की बात करना मानुषभाव का संकोचन है, समस्त चर-अचर, चेतन-अचेतन के अधिकारों की चिन्ता करना सही मानुषभाव है। दिये जलाने का सही अर्थ सोचेंगे तो यह सब मिलेगा। पेड़, नदी, पशु सबके स्थानों पर दिये जलाए जाते हैं, जिन अँधेरे कोनों में कभी प्रकाश जरूरी नहीं होता, वहाँ भी आज के दिन दिये जलाए जाते हैं और एक दिये से दूसरा दिया जलाया जाता है, दिये के साथ मिट्टी, पानी, हवा, आग और आदमी का कुशल हाथ तो है ही, धरती की फसल से आये हुए दानों का निचोड़ भी है। कपास से सावधानी से पूरी गयी बाती भी है और सबके ऊपर है एक विनम्र उल्लास। यह त्योहार सबका है, इसमें खील की तरह जलकर भी बिखरना है, इसका अपना स्वाद है।

केवल अन्न खाना ही नहीं समस्त सृष्टि के देवता के लिए निवेदनीय अर्पणीय अन्न होना भी जीवन का अंग है। दिया पूरा जीवन है। उसे बुझाने की बात अमंगल है, बुझाते समय का भी मुहावरा है—दिया की बाती बढ़ाना।

आज हमने प्रतीक तो लिया, पर प्रतीक के अर्थ खोकर अपने को हिंस्र स्वभाव के पशु-पक्षी से भी अधिक लोलुप और दयनीय बना दिया है। मिट्टी का दिया, चाहे केवल गृहलक्ष्मी के आग्रह से ही, जो बड़ी-बड़ी हवेलियों में कोरे अनुष्ठान की पूर्ति के रूप में धान के ऊपर या किसी और अनाज के ऊपर रखा जा रहा है और मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, बिजली की रोशनी के ऊपर मुस्करा रहा है, वह यही सब याद दिला रहा है। उदास रात में भी यह दिया बुला रहा है, आओ अपनी अतृप्ति की, अपनी न मिटने वाली भूख और अपनी ऊब की, अपनी विरसता की उदासी अकेले झेले नहीं झिलेगी।

सम्पूर्ण जीवन की चिन्ता में अपना बुद्धि-बल-वैभव लगाओ, सबसे अधिक अपना अहंकार गलाओ, तब कहीं सही रोशनी होगी। न पीछे जाने की जरूरत है, न आगे बढ़ने के नाम पर निरुद्देश्य भटकने और भागने की जरूरत है, थोड़ा विलग, पर मुकम्मल ढंग से सोचकर अपनी जरूरत के अनुसार अपनी ऐसी राह निकालने की जरूरत है, जो दूसरों के विरोध में न हो, दूसरों के आसरे न हो, पर दूसरों को न्यौतने के लिए बराबर खुली हो।

सांस्कृतिक पहचान और विकास : आमने-सामने

अभी हाल ही में दिल्ली में यूनेस्को और इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कलाकेन्द्र के सयुक्त तत्वावधान में संस्कृति और विकास को केन्द्र में रखते हुए अन्तरराष्ट्रीय गोष्ठी हुई। इसमें आस्ट्रेलिया, मंगोलिया, तुर्की, श्रीलंका, थाईलैंड, भारत के विद्वान् भाग ले रहे थे। इसमें कई निबन्धों में गिरिजनों या आदिम द्वीप-वासियों के बीच उठी अस्मिता की नयी लहर की चर्चा हुई। कुछ में विज्ञान और तकनीकी विकास के सन्दर्भ में सांस्कृतिक अस्मिता के बचाव की चिन्ता व्यक्त की गयी। दो-तीन निबन्धों में जीवन की गुणवत्ता की तलाश की बात सैद्धान्तिक स्तर पर की गयी। इन चर्चाओं को पढ़ने और इनमें सहभागी होने का मुझे भी सौभाग्य मिला। इसकी फलश्रुति के समय संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास कार्यक्रम के दिल्ली स्थित प्रतिनिधि ने कुछ महत्त्वपूर्ण नयी विकास-नीति की बात की जिसमें विश्व और क्षेत्र एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, क्षेत्र का पूर्ण विश्वीकरण न विश्व के हित में है, न क्षेत्र के, क्षेत्र का विकास, क्षेत्र की संस्कृति विश्व के विकास से जुड़े, यह तो वांछनीय है पर क्षेत्रीय वैशिष्ट्य का समतलीकरण वांछनीय नहीं है। श्री सुभाष मलिक और श्री मृणाल मिरि ने समग्रवादी दृष्टि की बात कई स्तरों पर की और विज्ञान के नये आयामों को समग्रवादी दृष्टि के लिए अनुकूल वातावरण माना। कमोबेश यह बात यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री चाइल्ड ने भी की। यह सब आगे के लिए बहुत आशाजनक है।

परन्तु मुख्य चिन्ता के विषय तीन हैं—

1 विश्व बैंक या अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष के कर्जों के साथ विकास के निर्धारित पैमानों की शर्तें क्षेत्रीय   और क्षेत्रीय मान्यताओं की उपेक्षा

करती हैं। उनकी दृष्टि में विश्वीकरण का अर्थ है अमरीकीकरण। यह बात समझ मे नहीं आती। यूनेस्को से ऐसा छत्तीसा सम्बन्ध क्यों संयुक्त राष्ट्र संघ की ही दूसरी संस्था ने बना रखा है? क्या यूनेस्को केवल मनबहलाव का खिलौना है? ससाधनों के साथ उपयोक्ता का (उपभोक्ता का नहीं) सम्बन्ध कैसा हो, इस मूल बात को अनदेखा कर देना क्या स्वयं आगे चलकर अपने अनुसार पूर्ण विकसित देशों के भविष्य के लिए शुभ है, क्या आगे की मानवयात्रा आश्रयदाता-आश्रित के स्थान पर परस्पर आश्रित सम्बन्ध को अधिक कल्याणकर, अधिक स्वस्तिकर नही मानेगी? क्या उपभोग का परिमाण (और उसी के साथ जुड़ा हुआ है, अपभोग के कचरे का परिमाण, उच्छिष्ट का परिमाण) विकास का लक्षण होगा या दूसरों की भागीदारी सुनिश्चित करने वाला सयम विकसित मनुष्य का सही लक्षण होगा?

2. चिन्ता का दूसरा विषय यह है कि प्रकृति और मनुष्य में किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाय। प्रकृति के साथ साहचर्य का जीवन बिताने वाले वनवासी, गिरिवासी लोग किस माने में हीन हैं, वे अपने परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित करते रहते हैं, वे परिवेश की रक्षा मात्र नहीं करते। वे परिवेश की मुर्गी नहीं पालते कि वह अधिक अंडे दे, अच्छे अंडे दे, वे परिवेश को अपने भीतर समोते रहते हैं, उसे अपनी ही उमंग, आकांक्षा या पीड़ा का उच्छलन मानते हे। पश्चिम में सम्पन्नता की मार से आहत लोग कभी तफरीह के लिए कभी सुकून के लिए प्रकृति में रमना चाहते हैं, पर प्रकृति को सहभागी बनाकर नहीं रमना चाहते। वे हिमालय की शुभ्र चोटियों को अपने कचरे से पाट रहे हैं। वे अपने देश का कचरा अर्धविकसित देशों के पास के समुद्र को सौंप रहे हैं और इसी शर्त पर उन्हें विकास के लिए ऋण दे रहे हैं। वे यह नहीं समझते कि पृथ्वी एक है, एक जगह का समुद्र दूषित होगा, हवा दूषित होगी तो उसका प्रभाव सुदूर देशों पर भी पड़े बिना नहीं रहेगा। अमरीका, जर्मनी, जापान, ब्रिटेन, फ्रांस का आकाश बँटा नहीं है। इस आकाश में प्राचीरें नहीं बनायी जा सकतीं। असंख्य प्रजातियों का नाम वनस्पति जगत् में और प्राणिजगत् में पूरे जीवनचक्र को प्रभावित करेगा। यह जानते हुए भी प्रकृति को एकदम निष्क्रिय और निष्प्रभाव मानना बुद्धिमानी नही है। ज्ञान का, ज्ञान के विकास का अर्थ साधारण समझदारी खोना नहीं है। इस समय उत्पादन के समूहीकरण की ऐसी आँधी आयी हुई है कि नीम के गुणो पर अनुसन्धान हुआ और नीम का बेहिसाब कटना शुरू हो गया। हिन्दुस्तान को इसकी चिन्ता नहीं। हिमालय की तलहटियों से, विन्ध्य की उपत्यकाओ से औषधियाँ लुप्त होने लगी हैं, औषधियाँ सामूहिक उत्पादन के लोभ में उजड़ने लगी हैं भविष्य को भी उन औषधियों की होगी इसकी सुधि ही नहीं है

बहुत-सी औषधियाँ तो इसलिए लुप्त हो रही हैं कि वे कुछ वृक्षों की छाया में ही होती हैं, वे वृक्ष बेरहमी से काट दिये गये हैं। इन औषधियों के मूल का रस पिघली बर्फ के साथ गंगा में, उसकी सहायक नदियों में घुलता-मिलता है, उन नदियों के जल में अपने आप शोधन-क्षमता पैदा होती है। समूह उत्पादन के नाम पर आयुर्वेद शिक्षा में भी औषधियों की पहचान कर्मकांड मात्र रह गयी है। ओषधिशाला कहीं दिखाई नहीं पड़ती। गाँव की परती तोड़ी जा रही है, अपने आप ओषधियाँ विदा हो चुकी हैं।

लोग इस प्रकार की चर्चा को वाग्विलास या दिमागी ऐयाशी ही अधिकतर मानते हैं, जैसे युद्ध की हिंसा की वार्त्ता रम्य होती है, वैसे ही पर्यावरण की चर्चा भी रम्य लगती है। पर यह समस्या पूरे जीवन के अस्तित्व की ही नहीं, जीवन के आस्वाद की भी है। इसे अधिक गंभीरता से लेना चाहिए और जिस तरह की दोरुखी नीति सम्पन्नता के मद में अपने को अतिविकसित मानने वाले देशों ने अपनायी है, वह उन्हीं के लिए अशुभ होगी। जो सबको भरता है, वह खालीपन से परेशान नहीं होता, जो अपने को भरा रखना और दूसरों को कुछ खाली रखना या दूसरों को समझाना कि तुम खाली हो, देखो हम कितने भरे हैं, परम पुरुषार्थ मानता है, वह भीतर से खोखला होता चला जाता है। एक समय तब ऐसा आ सकता है कि वह जिसको छुएगा, वही खाली हो जायेगा, निस्पन्द हो जायेगा, भले ही वह एकदम कंचन हो जाय। जो जहाँ है, जिस परिस्थिति में है, जैसे है, उसका आदर करना भी नेतृत्व करने का दम भरने वाले देश का कर्त्तव्य होता है और ऐसा नेतृत्व स्वीकार करने वाले देश का भी।

3. अब हम चिंता के मुख्य और प्रस्तुत विषय पर आते हैं (यद्यपि ऊपर के दोनों विषय भी संस्कृति के बाहर नहीं, संस्कृति से उद्‌भूत भी नहीं, संस्कृति के भीतर ही हैं।) संस्कृति विकासनीति के हाशिये में क्यों है? भारत सरकार के संस्कृति-सचिव ने स्वयं स्वीकार किया कि संस्कृति की प्राथमिकता बहुत नीचे है। जिन बड़ी समस्याओं का समाधान संस्कृति में ही मिलेगा, उनके समाधान को दूसरे उपायों से करने में समय, धन इतना नष्ट हो रहा है कि संस्कृति अपने आप हाशिये में कौन कहे, परिशिष्ट में आ जाती है। गाँव पंचायत को ही लें, बिना सांस्कृतिक दृष्टि के गाँव पंचायत का गठन होगा तो वह घटिया राजनीति का अखाड़ा बनकर रह जायेगी, पर गाँव के हुनर, गाँव के संगीत, गाँव के कौशल, गाँव के पेड़-पौधे, गाँव की निजंधरी गाथाएँ, गाँव के अपने रीति-रिवाज और अपनी संयोजक व्यवस्था (जिसे जजमानी कहा जाता है) इन सबको समष्टि रूप में आधार बनायेंगे और उसी संगठन को अपने चहुँमुखी विकास के लिए प्रेरित करेंगे

साथ ही साथ समग्र जीवनदृष्टि उन्हीं के भीतर से उद्‌भासित करेंगे, तभी यह व्यवस्था सार्थक होगी। केवल स्त्रियों के लिए स्थान सुरक्षित करने से स्त्री के भीतर आत्मविश्वास नहीं आयेगा, पर वह जो कौशल अपने पीहर से सीखकर आयी है, जो गीत अपनी माँ अपनी सास से सीख चुकी है, वह गाँव के जीवन का उपयोगी ही नहीं प्राणभूत अंश है, इस बात पर भी ध्यान देना होगा। जो लोग घरेलू दवाएं करते थे, उनकी समझदारी का परीक्षण कर लिया जाय और उपयोग किया जाय। गॉव की पाठशाला में शिक्षण में वाचिक परम्परा के शिक्षित पर निरक्षर लोगों की माझेदारी हो, अपने आप सफेदपोश और गैर सफेदपोश के बीच अन्तर मिट जायेगा। अपने आप ये स्वयं अक्षरज्ञान के लिए उत्साहित होंगे। उन्हें अयोग्य, अशिक्षित मानकर जो साक्षरता दी जाती है वह उनके लिए उद्वेजक होती है, गॉव के उत्सव गाँव के ऋतुमंगल, गाँव पंचायत के लिए वैसे ही महत्त्वपूर्ण होंगे जैसे न्याय-व्यवस्था, कृषि-व्यवस्था या उद्योग-व्यवस्था। सांस्कृतिक अस्मिता के बिना कोई जातीय व्यक्तित्व नहीं बनता और बिना इस व्यक्तित्व के किसी समूह का किसी भी प्रकार का विकास आरोपित व्यापार होता है।

संस्कृति नृत्य-गीत-काव्य या चित्र-शिल्प ही नहीं है, ये सब बातें तो संस्कृति की अभिव्यक्ति हैं, संस्कृति जीवन का सहज छन्द है। हम कैसे दूसरे के साथ समंजस होते हैं, हम कैसे दूसरे के ध्यान से अपने ऊपर संयम करते हैं, कैसे हम विशाल परिवार की आत्मीयता को आचरण की भाषा देते हैं, यह सब संस्कृति है। यदि हमारे इस प्रवाह के सांस्कृतिक आचरण में निर्गुण सहायक है, यदि रोपनी का गीत सहायक है, विवाह जैसे संस्कार का गीत सहायक है, रामायण कथा सहायक है, लोककथा, लोकगाथा सहायक है तो उसे विकास की गति के लिए प्रेरक मानना चाहिए, केवल उसे पृष्ठभूमि का संगीत या कैलेंडरी तस्वीर नहीं मानना चाहिए। सस्कृति सहज सर्जनात्मक आकांक्षा है, इसीलिए वह सहज आत्मविस्मृति भी है। अभी तक तो किसी विकास कार्यक्रम में विशद रूप से इस प्रकार की सांस्कृतिक सोद्देश्यता परिभाषित नहीं हुई है। संस्कृति बहस के बाहर कैसे खुले आकाश मे जाय, इस पर ध्यान किस संवत् में जायेगा?

मैं गाँव का आदमी हूँ पर लम्बे अरसे से शहर में हूँ, शहर भी मेरे ध्यान मे है, शहर की भी आत्मा होती है, शहर के उद्यान, शहर के सरोवर, नदियाँ और उत्सव के स्थान शहर के स्पन्दन होते हैं। शहरी संस्कृति गाँव की संस्कृति से कुछ अलग नहीं होती। आदमी कोई अलग नहीं होता। क्या कारण है कि शहर मे जितनी मलिन बस्तियाँ हैं उतनी किसी गाँव में नहीं हैं। गरीब से गरीब की झोपडी भी अधिक साफ-सुथरी और अपेक्षाकृत अधिक खुली होती है इन गरीब बस्तियों

मे भी पीपल और नीम के पेड़ होते हैं, पर इन मलिन बस्तियों में साँस लेने के लिए किसी भी वनस्पति का स्पन्दन नहीं? संस्कृति की चिन्ता हो तो मलिन बस्तियों का विस्तार वहाँ रहने वालों को नागरिकता के अधिकार, उनके लिए राशन दुकान की व्यवस्था, उनके बीच शान्ति स्थापन की सरकारी व्यवस्था, इतने से ही राज्य के कर्तव्य की इतिश्री न हो। इन बस्तियों में रहने वाले आज भी होली हवेलियों वालो से अधिक उमंग से मनाते हैं, पर वे तथाकथित सुसंस्कृत व्यक्ति की आँखों की बस किरकिरी हैं। उन्हें दूर हटाते जाने में ही सुरुचि सम्पन्नता प्रमाणित होती हे। ठेकेदारी का मायाजाल कितना वैषम्य पैदा कर रहा है, कितना जीवन्त मनुष्य को लाचार और लाचारीवश ही हिंस्र बना रहा है, यह भी सांस्कृतिक चिन्ता का ही विषय है।

इसलिए संगोष्ठी ने तो विचार-पीठिका मात्र दी, उसकी कार्ययोजना का रूप क्या होगा, इस पर बहुत कुछ न केवल भारत का बल्कि पूरे विश्व का भविष्य निर्भर करता है। कार्यरूप देने की प्रतिभा हमारे देश में है। यह कहना कि यहाँ सामाजिक नैतिकता नहीं, नागरिकता का बोध नहीं बहुत बड़ी भूल है। हमारे पास सामाजिक नैतिकता से बड़ी चीज है लोकहित, सर्वभूतहित, पूरे जीवन की चिन्ता, उससे बड़ी कोई नैतिकता नहीं होती। इस सहज नैतिकता को विकास-संस्कृति का अग बनाना प्रथम धर्म है।

संस्कृति का हस्तक्षेप या संस्कृति में हस्तक्षेप

अभी-अभी मेला मैदान में जिसे प्रगति मैदान कहा जाता है, कलाकारों, लेखकों, विद्वानों और देश के लगभग 80-85 प्रबुद्ध लोगों का मेला समाप्त हुआ। इस मेले में राष्ट्र की संस्कृति-नीति पर विचार हुआ या ठीक कहें विचार हुए। कुछ लोग सांस्कृतिक परिषद के गठन से चिन्तित थे, संस्कृति के विकेन्द्रीकरण के नाम पर किये जाने वाले केन्द्रीकरण से आतंकित थे। संस्थाएँ असफल भी रही हों, पर उनकी स्वायत्तता पर अंकुश लगाने के विरोध में थे। पर मुझे लगा कि मेले में दुकानदारी की चिन्ता कुछ अधिक थी। संस्कृति पर खर्च कैसे बढ़े, संस्कृति का एकाधिकार कहाँ रहे—ऐसे विषयों की घटा घहरायी रही, पर उस साँस-उतार सौदे की चिन्ता कुछ कम दिखी, जिसके कारण संस्कृति पूरे समुदाय की संस्कृति होती है। यह भी देखा कि सांस्कृतिक संस्थानों की स्वतन्त्रता की बात उन कोनों से भी आ रही है (और यह अच्छा एवं सुखद लगा) जो संस्कृति को राजनीति (वैसे कहने के लिए सर्वहारानीति) की चेरी बनाए रखने का प्रयोग करते रहे, अब उन्हें लगा कि यह संस्कृति दबायी नहीं जा सकती और वे संस्कृति को एक नये प्रकार की जकड़न में बँधते नहीं देख सकते।

कुछ लोग फकीराना अन्दाज में यह भी बात कर रहे थे कि परिषद तो राष्ट्रीय स्वर बने, पर वह परिषद बराए नाम हो, उसका कोई एक जगह दफ्तर न हो, उसके साथ कोई कार्यालय का तामझाम न हो, वह रमता रामों की परिषद हो। उनमें से सभी या कुछेक या बस कोई अकेला ही प्रश्न कर सकता हो—राजन, यह क्या हो रहा है, यह इस देश का स्वभाव नहीं, इस देश की लय नहीं है, यह बेसुरा आलाप नहीं चलेगा। इन लोगों में रामू गांधी, अनन्तमूर्ति, स्वामीनाथन, गोविंद चन्द्र पांडेय जैसे कई-एक लोग थे। कुछ लोग इस प्रकार की कोरी आदर्शवादिता को अर्थ देना चाहते थे वे इससे सहमत थे पर देश के सब प्रकार के विकास को

संस्कृति-सापेक्ष बनाने पर बल दे रहे थे, कपिलाजी, जया जोशी जैसे लोग इनमे थे। कुल ले-देकर इन सभी लोगों का बल इस पर था कि संस्कृति के धरोहरी कैसे राष्ट्र की गतिविधि मे हस्तक्षेप कर सकें, इसका उपाय सोचना चाहिए।

हमारे देश में संस्कृति शब्द पहले नहीं चलता था, अभी बस हाल-हाल चला है और चला है तो इसने पुराने शब्द धर्म को किनारे कर दिया है। धर्म को इसके कारण एक छोटा स्थान मिल गया है। ऐसा समझा जाने लगा है और इस पर गर्व भी किया जाने लगा है कि धर्म के बिना हमारा काम बखूबी चल सकता है। हम कोई धर्म नहीं मानते, इसलिए सभी धर्मों को बराबर देखते हैं। या शायद एक-सा निरर्थक देखते हैं। संस्कृति नाम देने से ही कुछ उत्पादकता और उत्पाद, उपजाने वाले और उपज का एक सम्बन्ध उभरने लगता है। हम जिन्हें आज संस्कृति के अतिलक्षण कहते हैं, जिन्हें कला-सृष्टि कहते हैं, रचना कहते हैं, उनके बारे मे हमारी समझ क्या थी, इसका भी स्मरण कर लें। हम जैसा कि पहले कह चुके हैं, रचना या कृति 'सीस उतारै आपना' के बिना संभव नहीं थी, इसलिए रचना होते-होते रचनाकार गायब हो जाता था। रचना का आदर्श हस्ताक्षर नहीं था। इस समझ में रचनाकार की अलग पहचान खो जाती है, यही रचनाकार की अमरता है कि उसका शरीर हाड़मांस का होता हुआ भी—एक भावशरीर हो जाता है, एक अनंगशरीर हो जाता है और रचना बस हो जाती है, कुछ से कुछ अलग, कोई बनाता नहीं, बस बन जाती है, 'राग रसोई पागरी बनत बनत बनि जाय'। इसीलिए रचना उस भाव की अभिव्यक्ति है, जो दिखता नहीं था, दिखते ही वह रोशनी के सेलाब की तरह सबको समेट लेता है, सबको भर देता है और फिर भाव का रूप बनकर, गूँज बनकर, सुवास बनकर कहीं अन्तर्मन में टिक जाता है, वहीं से हलकी-सी ठेस पर उभर आता है और रचना का नया जन्म बन जाता है।

ऐसे पागल लोग लोक में ही रहते थे, लोक से मधुकरी भी लेते थे और लौकिक जीवन के रागद्वेष से कटे भी नहीं थे। कुछ उनमें विरागी भी रहे होंगे, पर ऐसे विरागी भी, तपसी भी एक महाराग से आविद्ध थे। तभी वाल्मीकि जैसे कवि को ताव चढ़ा और उन्होंने बहेलिये को शाप दिया, तुमने केलि करते जोड़े में से नर को क्यों बींध दिया बाणों से, उसके सुख के क्षण को तुमने पूरी सृष्टि का उल्लास क्यों नहीं समझा। कहीं उनके भीतर महाराग था, तभी तो। हमारे अपरिग्रही साधु 'खरिया झोली' का परिग्रह भी छोड़ने वाले सन्त, लोकसंग्रह से तो नहीं पर लोकानुग्रह से बँधे हुए थे। अपनी मुक्ति से उन्हें सन्तोष नहीं था, वे मुक्ति को सबके पास पहुँचाना चाहते थे। उनका वेश था माँगने का, काम था बाँटने का देने का उनकी जमात नहीं थी संस्था नहीं थी वे स्वयं संस्था थे

समाज उन्हें शृंगार के रूप में नहीं अपने मस्तक के तिलक के रूप में धारण करके अपनी पहचान बनाता था। यह बात कोई बहुत पुराने बीते-बिसरे जमाने की नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने समृद्ध अमेरिका में भीख माँगकर अपने को या भारत को दयनीय नहीं बनाया, अमेरिका की समृद्धि को ही अपने आगे दरिद्र बना दिया। विराट जब वामन बनकर बलि के दरवाजे भीख माँगता है तो बलि का दर्प छोटा हो जाता है। जब अनुष्ठान के रूप में ही सही, आज के प्रगतिशील लोगों की दृष्टि में निरर्थक कर्मकाण्ड के रूप में ही सही, कोपीन पहनकर संस्कार के बाद बच्चा (वटु) माँ से कहता है—'भवति भिक्षां देहि'—माँ भीख दो, तो माँ न्योछावर हो जाती है। आज मेरी संतान आश्रम में प्रवेश कर रही है, मेरी कोख से जनमा बच्चा आज एक दूसरी कोख में प्रवेश कर रहा है, कुछ और होने के लिए। हमारे यहां मंगल गीतों में एक गीत है, जिसका भाव है हमारी कोख धन्य हुई कि हमारा पूत देश का सेवक होने जा रहा है।

यह कोरी भावुकता नहीं है, यह देश का स्थायी भाव है, वह किसी पहले से दी हुई वस्तु के रूप में जीवन को ग्रहण नहीं करता वह उसे एक निरन्तर बहने वाली और अपने बावजूद बहने वाली धार के रूप में ग्रहण करता है।

ऐसे जीवन की साधना किनारे पर खड़े-खड़े नहीं होती, मझधार के थपेड़ों मे ही जीवन कुछ का कुछ बनता है। जिनका बनता है, वे बिना हस्तक्षेप किये हस्तक्षेप कर लेते हैं, बिना शासक हुए शासन कर लेते हैं, बिना मुकुट के मुकुटधारी हो जाते हैं, वे राम हों, कृष्ण हों, बुद्ध हों, महावीर हों, शंकर हों, कबीर हो, तुलसी हों, रामकृष्ण परमहंस हों, रमण हों, माँ आनन्दमयी हों, गांधी हों, तिलक हों, व्यास, वाल्मीकि, कालिदास हों, गौतम, कणाद, नागार्जुन, उमास्वाति, वाचस्पति, उदयन, भास्कर, गोपीनाथ कविराज हों, सभी कहीं न कहीं अति सामान्य होने के कारण ही विशिष्ट हैं।

ऐसे अति सामान्य लोगों का स्थान राज्य स्वीकारे, उनको केवल कला-ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में महत्व देकर उन्हें हाशिये में न रखे, उनसे राजनीति-अर्थनीति-विकासनीति सबमें दिशा-निर्देश ले, यही सही संस्कृतिनीति होगी। नयी संस्थाएं बड़े उत्साह से प्रारंभ की गयीं, पर अधिकतर बिखर गयीं, विजाड़ित हो गयीं, उसका कारण तलाशें तो पता चलेगा कि संस्था में संग्रह का भाव आया। क्रान्तिकारी से क्रान्तिकारी परिवर्तन का संकल्प लेने वाली संस्थाएँ रूढ़िवादी हो गयी। उन्होंने हलचल पैदा की, पानी में कुछ बहाव आया, पर वे संस्थाएँ स्वयं कहीं थम गयी, उनमें ठहराव आ गया, इसलिए हमारे यहाँ संस्था वही चलती आयी जो कही ज्यादा देर ठहरती न हो वह मोह नहीं बनती। वह प्रिय से प्रिय वस्तु या व्यक्ति

या शिष्य से बँधती नहीं, इसीलिए किसी को भी बाँधती नहीं। इसीलिए ऐसे लोगो का कहीं नदी-नाव संयोग जुड़ना हुआ तो वहाँ संगम तीर्थराज प्रयाग बस जाता हे।

ऐसे मनजुड़ा जुड़ाव बन सके तो अपने आप एक संस्कृतिनीति साकार हो जायेगी। और अब भी 'मही वीरविहीन' नहीं हुई है, संकल्प शुभ हो तो ऐसा जुड़ाव बनेगा, किसी को भय खाने की जरूरत नहीं, किसी का दाम नहीं छिनेगा, किसी का अधिकार (यदि वह अधिकार भ्रमवश मानता भी है) कम नहीं होगा, किसी के ऊपर भी अंकुश नहीं लगेगा, सब विचित्र प्रकार की सुरक्षा का अनुभव करेंगे। यदि राज्य एक बन राष्ट्र को अपने से ऊपर मान ले और राष्ट्र का स्वभाव जिन इने-गिने फक्कड़ लोगों में अब भी धड़क रहा है, वे पुराने पोथी-पंडित हो, सगीत-साधक हों, अर्पित कलाकार हों, कला-शिक्षक हों, रमता जोगी हों, नक्षत्रो की भाषा पढ़ने वाले निपट गाँव के लोग हों, जहाँ वे सयाने माने जाते हैं, वहीं कही तलाशें, उनको अपने दरवाजे न बुलायें, वहाँ राज्य पहुँचे, तब जो परिषद गठित होगी, वह देश की सुषुम्ना नाड़ी होगी। वह अब भी चल तो रही होगी, पर हमे अहसास नहीं हो रहा है, जब हम उसे पहचानकर उसे अपनी पहचान बनायेंगे तो हमे एहसास होने लगेगा कि सुषुम्ना चल रही है, कुण्डलिनी जाग्रत है।

संस्कृति में राज्य हस्तक्षेप करे, यह भी तब अप्रासगिक हो जायेगा। इस देश मे देवता भी हस्तक्षेप नहीं करते, वे हास-परिहास में सहभागी रहते हैं। जिन्हें ऊँची भौह वाला कहा जाता है, उसके लिए हमारे यहाँ कोई ऊँचा आसन नहीं है। जो चिनगारी राख में लिपटी हुई है, उसे पहचानते हैं, उससे अपना अलाव धधकाते है, एक-दूसरे का चेहरा अन्धकार में पहचानते हैं। एक-दूसरे के करीब आते हैं, एक-दूसरे की बात सुनते-सुनाते हैं और युगों-युगों तक आत्मीय बन जाते हैं। इन चिनगारियों को जुटाने का समय आया है। रिश्ते ठंडे हो गये हैं, हाथ-पैर सुन्न हो गये हैं और लगता है 'देह अपनी नहीं रह गयी है', बिना उस आग के, अब काज सरता नहीं।

पर एक बात है सत्ता के समझदार लोग आहुति की राख में दबी चिनगारियो से आग लें और स्वयं आग बनकर लौटे, उन्हें एकत्र करके महापिंड न बनाये, विविधता की चिन्ता वैसे ही उन्हें जरूरत से ज्यादा है। पर वे इतना जान लें, उस चिनगारी से रसोई भी बनती है, उससे धूप भी जलती है, उससे चिलम भी भरी जाती है, उससे रोशनी भी की जाती है और उसी से विदा भी दी जाती है। वह आग कुछ अधढकी ही सुरक्षित है, जहाँ है वहाँ सुरक्षित है। उस आग को वही सम्मान दें। आग से खेलने या उसकी आतिशबाजी न करें, 'इहै हमार परम सवकाई

भारतीय संस्कृति और समन्वय

बहुधा समन्वय का अर्थ यही लिया जाता है कि उसमें कुछ अलग-थलग चीजें मिलीजुली हों, विभिन्न विश्वासों और जीवन प्रकारों का सह-अस्तित्व हो। विशेष रूप से भारत के संदर्भ में यह बात बार-बार दुहरायी जाती है। पर इस कथन में कहीं कोई नादानी है या बहुत बड़ा दुराव है। अन्वय शब्द का अर्थ है एक-दूसरे से सम्बद्ध होना। समन्वय का अर्थ अच्छी तरह सम्बद्ध होना है। समन्वय की स्थिति में जो पदार्थ जुड़ते हैं, वे अलग-अलग भी पहचाने जा सकते हैं और परस्पर सम्बद्ध रूप में भी। जिस रूप में वे एक-दूसरे के सापेक्ष हैं, वहाँ वे एकता के सूत्र बनते हैं और जिस रूप में वे निरपेक्ष हैं या किसी बाहरी पदार्थ के सापेक्ष हैं, वहाँ वे बिलगाव के कारण बनते हैं। पूरी तौर पर समन्वय समरसता से आता है, एक-दूसरे के लिए चाह से आता है, समन्वय जहाँ अधूरा रहता है और एक विशेष उद्देश्य से रहता है, वहाँ बिलगाव हो जाता है।

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का विभाजन इसका प्रमाण है। विभाजन के बाद भी कहीं न कहीं आकांक्षा पाकिस्तानी और हिन्दुस्तानी के बीच अब भी कभी न कभी अंकुरित होती रहती है, यह सम्पूर्ण समन्वय की तलब का प्रमाण है।

कुछ लोग, भारतीय संस्कृति सबको आत्मसात् कर जाती है, यह इसकी बहुत बड़ी विशेषता मानते हैं। कितनी जातियाँ यहाँ घुली-मिलीं, उनकी अलग पहचान नहीं रह गयीं, गंगा की धारा में इतनी नदियाँ मिलीं, सभी गंगा हो गयीं। पर इससे बड़ी विशेषता भारतीय संस्कृति की यह है कि यह परायापन नहीं देखती, न मनुष्य की किसी अन्य प्रजाति में, न जीवजगत् में। अतः आक्रामक से आक्रामक हिंस्र मनुष्य या पशु को भी आत्मीय भाव से देखती है। यह अपने भाव को आरोपित नहीं करती न दूसरा से आरोपित होना चाहती है यह न अपन को

इसीलिए यहाँ कोई एक केन्द्र नहीं, न कोई स्थान, न देवता, न मनुष्य, न मनुष्य का विशेष वर्ण या आश्रम, सब अपने-अपने ढंग से अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग सन्दर्भों में केन्द्र होते रहते हैं। इसी से कोई छोटा-बड़ा स्वरभेद के नाते यहाँ दिखता है तो वह समझदारी की कमी के कारण दिखता है। देवी के मन्दिर में माली ही पुजारी है, कहीं कोई दूसरा, इससे कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। हर एक की भूमिका विशेष तो होती है, पर दूसरे की भूमिका से न बड़ी होती है, न छोटी। सब एक-दूसरे की भूमिका को समझकर सब होकर बड़े होते हैं। कहना चाहे तो कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति की मूल शक्ति उसकी सर्वमयता हे। उसके देवी-देवता सबके हैं, वे सर्वमय हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि जो सबको देखता है, वही देखता है, जो सबको नहीं देख पाता, वह जीवन को नहीं समझ सकता, क्योंकि तब वह मृत्यु से आतंकित रहता है, व्यक्ति के रूप में वह असुरक्षित रहता है। सबके साथ जुड़कर वह अमर हो जाता है। वह अपनी सन्तान मे जीवन की सम्भावना देखता है, वह स्वयं को अपने पूर्वजों की अधूरी आकांक्षाओ की पूर्ति के रूप में देखता है।

कहा जा सकता है यह तो आप हिन्दू मन की बात कर रहे हैं, भारतीय मन की बात नहीं। भारतीय मन हिन्दूमन से अलग है न? मेरा उत्तर यह होगा भारतीय मन हिन्दूमन से अलग नहीं, मुस्लिम मन से अलग नहीं, ईसाई मन से अलग नही, अलग होता तो उपनिषदों का अनुवाद मुसलमानों ने क्यों फारसी में किया होता, अलग होता तो यूनान के तत्व चिंतकों को बराहमिहिर ने ऋषि क्यों कहा होता, अलग होता तो पश्चिमी चिन्तन को भारत ने विश्व में सबसे अधिक गंभीरता से क्यों लिया होता। भारतीय मन है जो हिन्दू को जायसी के पद्मावत का रसास्वाद कराता है (यद्यपि इसमें प्रतिपादन इस्लामी मत का है) मुसलमान को कृष्ण के सोन्दर्य की ओर आकृष्ट करता है। माइकेल मधुसूदन दत्त से विरहिणी ब्रजागना लिखाता है। भारतीय मन की विशालता के कारण ही हिन्दू हिन्दू भी रहता है, भारतीय भी रहता है, मुसलमान मुसलमान भी रहता है और तूतिए हिन्द भी रहता है, ईसाई ईसाई भी रहता है और रामचरितमानस का पारायणी भी बना रहता हे, ग्राउज जैसा व्यक्ति रामचरितमानस का अंग्रेजी अनुवाद ही नहीं करता, ब्रजभाषा मे कविता भी करता है। समन्वय का उदाहरण है दक्षिण-पूर्व एशिया की कला-कविता, जहाँ पर भारतीय महाद्वीप के कथानकों (रामकथा, महाभारत कथा, जातक कथा से सम्बद्ध) का नया विस्तार हुआ है, पर मूल संदेश वही है, आकृतियों में, उनके अभिलक्षणों में थोडे-बहुत अपनी जातीय कल्पना के अनुसार नये रूपान्तर भ

साथ रहने का संस्कार

मैं वहुत छोटा था। धुंधली-सी स्मृति रह गयी है। मेरे घर बुआ आयी हुई थीं। उनका छोटा लड़का मेरा हमउम्र था, बड़ा ही सुन्दर सलोना और बड़ा ही शरारती। खेल में वह हार गया। खीझ में उसने छोटी-सी कंकड़ी दूर से मारी, ठीक सिर में लगी। खून का फौव्वारा बह चला। इसके बाद क्या हुआ, स्मरण नहीं। इतना जानता हूँ कि ललाट पर उस चोट का निशान अभी तक है। पर न तब न अव उस सलोने शरारती लड़के के प्रति द्वेष था या है। उसके चुलबुलेपन और उसके सहचर होने की ही छाप मन पर रह गयी है। वह बहुत पहले संसार से विदा हो गया। साथ रहना किसी का, बड़ी गहरी छाप छोड़ता है, यह छाप जीवकोश में अंकित हो जाती है। इसीलिए जिस जगह हमारे पुरखे पहले रहे हैं, वहां से हम चले भी आये हैं तो भी हल्की-सी छाप कहीं रह जाती है। थोड़ी देर के लिए रेलगाडी मे लोग साथ रहते हैं, पहले लड़ते-झगड़ते हैं कि आपकी यह सीट नहीं मेरी है फिर विदा होते समय अद्भुत स्निग्धता आ जाती है। हिन्दुस्तान में साथ रहने का अर्थ इसीलिए और भी गहरा है कि यहाँ आदमी प्रकृति के साहचर्य से इतना जुड़ा रहा है कि वह मानवीय रिश्तों से पूरी सृष्टि को बाँधे रहता है। यहा नदी माँ हो जाती है, चन्दा मामा, कोयल सौत, बिरवा पुत्र और बरगद दादा। इतने जातिभेदों स्वरभेदों के रहते हुए भी यहाँ के रिश्ते ही सामान्य जीवन में अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं। आज इन रिश्तों की मिठास कुछ कम भले हो गयी हो, पर उनका संस्कार खो नहीं गया है। छोटी-सी दूसरी घटना याद आती है, हवाई द्वीप में टोक्यो से उड़कर उतरा था। वहाँ सूट-बूट में साँवले से एक सज्जन दिखायी पड़े, उन्होंने कुर्ता-धोती में मुझे देखा, मेरे पास आ गये, सीधे पूछा और भोजपुरी से भावित हिन्दी मे पूछा, "आप काशी के तो नहीं!" मैं एकदम अचकचा गया, फिर भोजपुरी मे बातें होने लगीं वे ट्रिनिडाड के थे उनके चार पुश्त पहले कोई पुरखा ट्रिनिडाड में जबरन लाया गया और ये लोग डार से बिछुड गये इसके बावजूद एक अनदेखे देश देश

के लोगों, उसकी भाषा, उसकी वेशभूषा से कहीं न कहीं जुड़ाव बना रहा।

किशोरावस्था की दूसरी घटना याद है। 11-12 का था, शहर में बड़े मकान में रहता था, पीछे इमली का बड़ा छतनार पेड़ था। नागपंचमी के आसपास छुट्टी के दिन कुछ रिमझिम वर्षा में वहाँ झूले पड़े। मैं भी उधर गया, मुझे मुझसे वय मे बड़े लड़के-लड़कियों ने एक तरह से बरबस बैठा लिया। घर के पीछे गड़रिये थे, कुछ जुलाहे। मेरी पीठ के पीछे एक मुसलमान लड़की पेंग मार रही थी, आगे एक गड़रिया लड़की, उधर पेंग पर मेरा एक नौकर। दोनों ने होड़ लगाकर पेंग मारी और झूला आसमान छूने लगा। इतने में इमली की वह डाल अरराकर गिरी और हम धरती पर, कुशल कि डाल हमारे बगल गिरी, बस एक-दूसरे के ऊपर हम गिरकर रह गये, चोट सबको आयी, पर सब थे डरे हुए, मुझे विशेष रूप से कसम खिलायी कि झूले की बात कहीं न करें, नहीं तो हमारी पिटाई घर पर होगी। चोट आज कहीं अंकित नहीं, वह कसम वह झूले के चढ़ने पर भयमिश्रित उल्लास और वह किशोर वय का अकलुष सख्य बसा हुआ है। आज विचारता हूँ, ऐसे झूलों ने दूसरों को भी ऐसे ही उमगाया होगा, हुलसाया होगा, पुलकाया होगा और गहरी छाप छोड़ दी होगी, साथ सुख-दुख सब पाने के भाव की, लीला साहचर्य की।

यह साहचर्यभाव दूसरे भावों से अधिक प्रबल है। पठान-तुर्क, मुगल हमारे शासक हुए, अंग्रेज शासक हुए पर आज उनका शासक रूप हमारे मन में नहीं है, है केवल साथ रहने वाला दुर्निवार साहचर्यभाव। साथ रहने का अर्थ एकजुट होकर रहना या एकरूप होकर रहना नहीं है। हमें स्कूल में कहानी पढ़ायी जाती थी कि अकेली एक पतली लकड़ी है, तोड़ने चलोगे टूट जायेगी, कई ऐसी लकड़ियों को रस्सी में बाँध दो, उनका गट्ठर नहीं टूटेगा। संघ में बड़ी शक्ति होती है। पर साथ रहना साथ रहना है, किसी ने कसकर हमें एक-दूसरे से बाँध दिया है और हमारा सौदा कर रहा है, उससे हम एक-दूसरे के कितने भी सटे क्यों न हों, एक नहीं होते, रस्सी खुलते ही अलग हो जाते हैं। कुछ लोग इसलिए सोचते हैं (और गलत सोचते हैं) कि अंग्रेजों की शत्रुता ने हिन्दू-मुसलमान को एक किया। अंग्रेजों ने तो लम्बे साहचर्य में यह दरार डाली, तुम हिन्दू के साथ क्यों हो, तुम तो इस देश के शासक रहे हो, तुम मुसलमान के साथ क्यों हो, तुम्हारी तो संस्कृति-सभ्यता इन लोगों से बहुत पुरानी और बड़ी ऊँची है। उसका असर यह हुआ कि हमारा वर्तमान हमसे कट गया, भूत हमारे कन्धे पर सवार हो गया। ऐसी बयार बही, भरे हुए घाव हरे होने लगे या यह बार-बार कहा गया, घाव हरे हो रहे हैं।

पर बात ऐसी है नहीं। मनुष्य अधिक दिन तक साथ रहता है तो वह लकड़ी का गट्ठर बनकर नहीं रहता। वह पाँच उँगलियों की तरह साथ रहता है। पाँचो उँगलियाँ एक-दूसरे के बराबर सटी ही नहीं रहतीं, न एक-सी होती हैं पर एक के कुछ होता है तो सभी उससे प्रभावित हो जाती हैं सभी अलग-अलग हरकत क

सकती हैं और मिलकर भी हरकत कर सकती हैं। अधिक समय तक आदमी का साथ रहना इसी प्रकार का होता है। आदमी एक-दूसरे पर अवलम्बित हो जाता है, एक-दूसरे के बिना एक-दूसरे का काम नहीं चलता।

सबसे अधिक यह परम्पराभाव पनपता है खेल में, स्कूल में, साथ गाने में, नाचने में, साथ श्रम करने में, फुरसत के क्षण साथ किस्सों-कहानियों में बिताने में और साथ-साथ नयी-नयी बहारों की सुगन्धि अपने भीतर भरने में। कभी कराची एयरपोर्ट पर मुझे यकायक उतरना पड़ा, विमान दिल्ली से कोहरे के कारण मोड दिया गया। वहीं हम हिन्दुस्तानी नागरिक डोरिया दिये गये। कार्डन कर दिये गये। बडी कोफ्त हुई। इतने में पाकिस्तान एयरवेज का एक चालक आया, उसने पूछा आप कहाँ के हैं, मैंने बतलाया और वह लिपट पड़ा, आप बनारस से आये हैं, गगा वैसे ही बहती है, बनारस वैसा ही गुलजार है, घाटों पर सुबह-सुबह वही रौनक है, पडितजी मैं भी बनारस का हूँ। मेरी उसने बड़ी खातिर की, पूरा कराची घुमाया और विमान पर चढ़ाकर विदा हुआ, उसकी आँखों में आँसू थे, इतना ही कह सका, मुल्क बदला पर वतन तो वतन ही है। यह रिश्ता किसने दिया, सात पुश्त से मै उस व्यक्ति को नहीं जानता था, पर बनारस शहर हमको जोड़ रहा था, बनारस शहर की उत्सवप्रियता जोड़ रही थी। हम आज इतने खरे बुद्धिजीवी होते जा रहे है कि हम अपने भीतर साक्ष्य नहीं ढूँढ़ते, कुछ कागजों में, कुछ पत्थरों में, कुछ ठीकरों में साक्ष्य ढूँढते हैं, आदमी यहाँ रहा, ऐसे रहा। हम नहीं खोजते उन लोगो को उन धुनों को जो हमारे अन्तर्मन पर छा जाती हैं तो हमारा हिस्सा बन जाती है। सदियों की बिछुड़न भी कुछ नहीं कर सकती। रोमानिया में लोकगीत उत्सव मे मेहमान था, झूमर जैसी धुन में कोई गायिका गा रही थी, बगल में ही उसकी कोई सहेली बैठी थी, मैं उसे सुनते ही गुनगुनाने लगा, निराला का उसी तर्ज में रचा गया, 'छाये पलक पर प्राण कि बन्दरवार बने तुम' वह कुछ अचकचायी, दुभाषिये के माध्यम से उसने पूछा, तुमने मेरी धुन कहाँ पायी। मैंने उत्तर दिया, न यह धुन तुम्हारी है, न मेरी, यह हमारी है। तुम क्या रोमानी हो, उसने कहा—हाँ। मैंने कहा मै भी रोमानी हूँ, बस मैं अपने देस कोस में बस गया हूँ, तुम घुमन्तू होकर निकल पडे हो। हम दोनों के छन्द तो एक हैं।

आज हिन्दू-मुस्लिम समस्या के समाधान के लिए मानवीय साहचर्य के इन सूत्रों की प्रासंगिकता कुछ अधिक बढ़ गयी है। कभी-कभी कर्मकांड के रूप में हम कहते हैं कि अमुक-अमुक मुस्लिम शासक ने अमुक-अमुक मठों की सहायता की। उसके दस्तावेज मौजूद हैं। अमुक-अमुक मुसलमान नेताओं ने हिन्दुस्तान की आजादी की लडाई में हमें नेतृत्व दिया। यह सब अपनी जगह ठीक है ऐतिहासिक

समझदारी इससे पैदा होती है। पर हम कर्मकांड के तौर पर ही सही उन रागात्मक सूत्रों की बात बहुत कम करते हैं।

मुल्ला दाऊद ने लोरिक चन्दा की प्रेम कहानी लिखी, जायसी ने पद्मावती की कहानी लिखी, बहुत-सी प्रेमगाथाएँ देवनागरी में नहीं लिखी गयीं, फारसी वर्णमाला में लिपिवद्ध हुईं, पर फारसी लिपि के ही आधार पर हिन्दी से अलग होने वाली उर्दू के पाठ्यक्रम में इनमें से किसी को स्थान नहीं है। हिन्दी में भी देवनागरी के माध्यम से उर्दू साहित्य छपता है और कुछ ज्यादा बिकता है पर हिन्दी के पाठ्यक्रम में मीर गालिब और फिराक नहीं शामिल किये जाते। हाँ, लावनी, कजली, आल्हा, चैती, ठुमरी, दादरा ये सब गाये जाते हैं तो वहाँ अलग-अलग परची नहीं चिपकायी जाती, यह हिन्दू की गायी कजली है, यह मुसलमान की गायी, यह हिन्दू की बनायी ठुमरी है, यह मुसलमान की। सन्त कवियों की वाणी मे भेद करना मुश्किल है, भक्त कवियों की ब्रजभाषा में यह भेद करना मुश्किल है। मनुष्य का जो कोमल पक्ष यहाँ है, वही हमने बिसरा दिया है।

इसी से हमें लगता है कि हम एक-दूसरे के द्वारा आहत हुए हैं, चोट खाये हुए हैं। चोट ज्यादा महत्वपूर्ण हो गयी है, वसन्ती हवाओं का अनमना मन लिये सहवेदना हल्की हो गयी है। गाँवों में वर्षा के दिनों में अल्हैत आते, अधिकतर अल्हेत मुसलमान थे और चौपाल में ढोलक बजती और 'इहाँ की बात इहैं रह जाय, अब आगे कै सुनौ हवाल' पर थाप पड़ती, लोग एकदम हुमस उठते थे।

गॉवों में जजमानी व्यवस्था ने सबको एक-दूसरे के ऊपर आश्रित नही, एक-दूसरे का अपेक्षी वना रखा था, यह भाव भी रखा था कि आदमी के काम आदमी आता है। जमीन की कितनी लड़ाइयाँ होती हैं, मुकदमेबाजी है, पर सुख-दुख में शरीक हुए बिना भी नहीं रहा जाता। दोनों पक्ष एक साथ चलते, एक ही इक्के पर बैठते और अदालत में फरीकैन (वादी-प्रतिवादी) बन जाते, जैसे वह एक नाटक हो। हमने फर्क को खेल-खेल में लेना भुला दिया है। कौन किसकी गुइयाँ (पार्टनर) है, यह उतना महत्व नहीं रखता, खेल में शरीक होना महत्व रखता है, यह बात हमारे मन में आ जाये तो अकारण वैरभाव या आशंकाभाव न रहे।

इसी सन्दर्भ में मुझे होली पर गाये जाने वाले गीत की एक कड़ी याद आती है, 'हमरे तुमरे कवन परसपर' (हमारे-तुम्हारे बीच क्या परस्पर है?) तुम ठहरे चार दिनों के हमारे संगी, तुम राजपाट करने चले जाओगे, हम ठहरी गँवार ग्वालिने, कहाँ से हमारे-तुम्हारे बीच कोई परस्पर होगा! इस गीत का उलाहना बड़ी चोट करता है, मनुष्य के बेगानेपन पर, और किसी को बेगाना नहीं रहने देता है। बेगानापन तो हमने स्वय मोल लिया है भरी-पूरी जिन्दगी की कीमत चुकाकर यह

चमकीला काँच हमने किस लोभ में खरीदा, पता नहीं इसमें कुछ सूरत अलग दिखती है, इसलिए कुछ अधिक खूबसूरती दिखती है, इसलिए या सिर्फ इसलिए कि सब खरीद रहे हैं, हम भी खरीद लें, इसलिए। हम यह क्यों नहीं सोचते कि बेगानापन तो हर हाट मे मिल जायेगा, पर कुछ है जो कहीं बाजार में नहीं बिकता। माँ का दूध बाजार में नहीं बिकता, बहन का स्नेह बाजार में नहीं बिकता। चूड़ी बिकती है पर चूड़ीहारिन का खास आलाप बाजार में नहीं बिकता। इतिहास हम कुछेक बाजारों में बिकता पा जायेंगे पर मनुष्य का मनुष्य के लिए प्यार, मनुष्य की सामान्य से सामान्य वस्तु के लिए ममता ये सब कहीं बाजार में नहीं बिकती। ये सौदा नहीं है। कभी-कभी किसी मद में हम इन्हें सौदा मान भी लेते हैं पर स्वयं सोदा हो जाते हैं। यह समझ आती है साथ रहने से, एक-दूसरे से रूठने से, एक-दूसरे के खिंचाव पर चिढ़ने से फिर जोर से हँसने से। अच्छी दिल्लगी है कि हम खिंचे चले जा रहे हैं।

हिन्दुस्तान के हिन्दू-मुसलमान के मजहब अलग हों, वेशभूषा भी अलग हो, कुछ देर मान लें कि धार्मिक सन्देश की भाषा अलग हो, यह भी मान लें कि निष्ठा अलग हो। (हालाँकि ऐसी निष्ठा का कोई मूल्य नहीं) पर उनकी लय कहीं न कही मिली हुई है क्योंकि वे सदियों तक साथ रहे हैं। एक माटी से सने हैं, एक ही पानी पिया है, एक ही हवा साँसों में भरी है, एक ही चाँदनी में नहाये हैं, एक ही धूप मे बड़े हुए हैं। उनके ऊपर इन सबके एक ही संस्कार हैं। एक तरह से कहें, किसी न किसी रूप में उनका जातीय स्वभाव बन गया है। उस स्वभाव को ही सही अध्यात्म मानना चाहिए। गीता में स्वभाव को ही अध्यात्म कहा गया है, आदमी की आदमियत ही उसका स्वभाव है, वही अध्यात्म है और समस्त साथ जुडे भोतिक परिवेश, समस्त आधिदैविक विश्वास—इन सबका निचुड़ा हुआ सत्त हे आदमी का साहचर्यभाव। कई सूफी-सन्तों के पास हिन्दू भी मुरीद बनकर जाते है और कुछ तो हिन्दू को 'हरि-हरि' जपने का उपदेश करते हैं, इसी प्रकार हिन्दू गुरुओं से बहुत से साधक मुसलमान हिन्देसिया में तांत्रिक बीजमंत्रों की दीक्षा लेते है। हिन्दुस्तान के मुगल शासकों ने संस्कृत से फारसी में इनका अनुवाद कराया, ब्रजभाषा के व्याकरण, नायिकाभेद और कोश का संकलन कराया, काव्यरचना की। उन सबने इतिहास नहीं देखा, वर्तमान के दबाव में उन्होंने जिनके साथ रहना हे, उनके स्वभाव से मेल खाकर रहना है, यह पहचाना।

काश हम लोग आज भी अपने भग्न वर्तमान को पहचानते और अपने टूटे हुए दीयों से रोशनी करते, भले ही अपने को बाती के रूप में पूरने की जरूरत पडे, पर वही रोशनी सही राह दिखायेगी वही राह अपनी होगी।

राज्य और संस्कृति

संस्कृति की स्वायत्तता और राज्य निरपेक्षता के पक्ष में प्रायः सभी चिंतित रहते हैं। यहाँ तक कि संस्कृति को नियंत्रित करने वाली राज्य-पद्धति के समर्थक भी, परन्तु राज्य और संस्कृति में किस प्रकार का सकारात्मक संबंध हो, इस पर बात करना अधिक आवश्यक है।

भारत में राजतंत्रीय और गणराज्यीय, दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं मे सस्कृति की स्वायत्तता भी थी और संस्कृति के निर्माताओं के पोषण की भी व्यवस्था थी। एक दूसरे प्रकार की व्यवस्था भारतीय रजवाड़ों में रही। वहॉ चित्रकार, शिल्पी, कवि, संगीतकार बड़े सम्मान के साथ रखे जाते थे। वे राजाओ और महाराजाओं की प्रतिष्ठा थे। उनमें से बहुत से लोग बड़े तुनुकमिजाज थे। देव और पद्माकर ने अनेक आश्रय छोड़े। ठाकुर की ठसक मशहूर ही है। और आज कलाकार या कोई भी रचनाकार, फनकार जनतंत्रीय व्यवस्था में रहते हुए अधिक लाचार है। इसके कारण की मीमांसा करते हैं तो दो बातें बहुत साफ उभरती है। एक तो यह कि संस्कृति हमारे समाज में, जीवन में भिनी हुई थी, छप्पर-छाने से लेकर प्रासाद बनाने तक के आकल्पनों का आधार एक ही विश्वदृष्टि थी। धूप ओर हवा का समुचित उपयोग सुनिश्चित करते हुए घर को व्यक्तित्व देना, कही न कहीं सामान्य में विशेष का आधान करना तथा घर को पूरे विश्व का लघुरूप देखना यही इस विश्वदृष्टि का मुख्य आधार था। आँगन में, कच्ची फर्श पर, पक्की फर्शो और हर प्रकार की दीवालों पर जो चित्र रचना होती थी, जो देहली की व्यवस्था थी, एक या अनेक चौकों की व्यवस्था थी, घर के आसपास जिस प्रकार के पेड़ लगाने की व्यवस्था थी (दूध वाले पेड़ घर के आसपास नहीं लगाए जाते थे) आँगन में तुलसी-चौरे की व्यवस्था थी, घर के पीछे नींबू, केला आदि फलदार वृक्षों को लगाने की व्यवस्था थी, इन सबके पीछे भी यही समग्र विश्वदृष्टि थी। फतेहपुर सीकरी में जोधाबाई का महल्ल और मधुबनी का विवाह मंडप दोनो ही इस देश के भीतरी सस्कार को रूपायित करते हैं एक में फूल-पत्तियों की

है, तो दूसरे में नक्काशी के बेलबूटों की। सब जगह निरंतरता और ओत-प्रोतता मिलती है।

रचनाकर्म सीखने-सिखाने के विद्यालय नहीं थे, बस जो उस कर्म में कुशल था, उसके पास लोग जाते, उसकी सेवा करते, उससे कुछ पाते, अभ्यास करते और अभ्यास बरसों तक करते। तब गुरु अपना हलका-सा संतोष व्यक्त करता। रचनाकर्मी समाज में बहुत आदर पाते थे। उन्हें पारिश्रमिक के रूप में उतना नही, जितना नेग-न्यौछावर के रूप में मिलता था। देने वाला बड़े ही विनम्र भाव से देता था।

यह सही है कि अब इस प्रकार की व्यवस्था पुनः वापस नहीं लाई जा सकती, इसलिए राज्य को संस्कृतिनीति बनाने की आवश्यकता जान पड़ती है, कि हम सत्ता के साये में संस्कृति को न रखें पर दूर से कहीं न कहीं हम हस्तक्षेप कर सके, यह कैसे संभव होगा?

स्पष्ट है कि यह बहुत बड़ी चुनौती है, पर इसका समाधान भी जातीय स्वभाव की पहचान से होगा। जब मैं जातीय पहचान की बात करता हूँ तो वह न नस्ल, न मत, न वर्ग—इनमें से किसी भी अर्थ से अतिरिक्त ऐसे अर्थ में करता हूँ जहाँ साथ रहने से, एक-दूसरे के सुख-दुख में अपरिहार्य रूप से शामिल होने से, एक-दूसरे के उत्सवों में सम्मिलित होने से, एक-दूसरे से शिक्षा लेने से कुछ संस्कार सदियों में बनते हैं, वे पूरी महाजाति के संस्कार हो जाते हैं। अब्दुर्रहमान के 'सदेशरासक' से या दकनी कविताओं, चित्रावलियों से जो परंपरा शुरू हुई, जायसी, कुतबन, मंझन में पल्लवित हुई या फिर रहीम-रसखान में। वह मतो के बीच समझौते से उतनी नहीं विकसित हुई, जितनी दुर्निवार साहचर्य भाव से कि हम जिनके बीच में हैं, जिनके साथ हैं, उनको वही हवा-पानी मिल रहा है, जो हमको, वही वसन्त है जो सबको हुलसाता है, वही ग्रीष्म है जो सबको तपाता हे। इसलिए जो हमारे पुराने शासकों ने दुर्नीतिवश हिन्दू कला, जैन कला, बौद्ध कला, मुस्लिम कला, ईसाई कला जैसे अभिधान गढ़े, वे इस देश के संदर्भ में कोई मायने नहीं रखते। यह सही है फनकार, उस्ताद शायद बाहर से आये। मुगल ही बाहर से आये, पर अकबर ने राम-जानकी के सिक्के ढलवाए, औरंगजेब ने अपने उत्तराधिकारी मुअज्जम के लिए ब्रजभाषा कविता, व्याकरण और कोश तथा नीतिवचनों का गुटका तैयार कराया। मुगल सामन्तों ने जिन कवियों-चित्रकारो को प्रोत्साहन दिया वे हिन्दू हों या मुसलमान सभी कृष्णलीला के पद गाते थे, रचते थे और उनकी चित्रकला को स्थानीय रंगत तो मिली थी पर उसके ऊपर कोई हिन्दू या मुस्लिम छाप नहीं है। इसी प्रकार रहन-सहन में भी गाँवों में कोई अन्तर न

रहा। यह कोई दो संस्कृतियों का समास नहीं, जैसा कि प्रायः समझा जाता है, यह एक ऐसा दुर्निवार भाव-प्रवाह है जो लोगों को बरबस साथ खींच ले जाता है। इसकी पहचान अगर होगी तो हम देखेंगे कि स्फटिक पर श्रीयन्त्र बनाने वाले कारीगर मुसलमान हैं, गाँव के मुसलमानों की शादियों में गजरा बनाने वाले, सेहरा बनाने वाले हिन्दू हैं। मुझे याद है घर में कोई उत्सव हो तो दीनू दर्जी की सिलाई मशीन घर आ जाती थी और हफ्तों रहती। सिलाई से कहीं ज्यादा उन्हें नेग मिलता। जुलूसों में, ताजियों में मुसलमानों से अधिक संख्या हिन्दुओं की होती। जाने कितने मुसलमान गायक मंदिरों में संगीत सुनाते रहे हैं। खानपान की कडी पाबंदी चाहे रही हो, पर पारिवारिक भाव बहुत प्रबल रहा।

आज संस्कृति को दो फाँकों में लोगो ने बाँट रखा है, शहरी और देहाती। मुख्यधारा और उपधारा। जनजातीय और अन्य। कला को भी बाँट रखा है। उपयोगी कला और शुद्ध कला। यह दृष्टि कितनी अन्धी है यह आप सहज ही पहचान लेंगे। संगीत में, जहाँ बराबर लोकधुनें राग की नई बंदिशों के रचे जाने मे अपनी भूमिका रखती रही हैं। यह कुछ दूर तक कथा-साहित्य के विकास में देख सकते हैं जहाँ वाचिक परम्परा की किस्सागोई की छाप आ रही है। यह मानना भी सरासर भूल है कि जनजातीय जीवन एकदम अलग-थलग है, विश्वदृष्टि पूरे भारतीय समाज की एक है, जिसमें मत-मतांतर जितने हों, पर आदमी का आदमी से और आदमी का अपने परिवेश से संबंध एक-सी गहरी आत्मीयता का संबंध है। दो परंपराओं या तीन परंपराओं की बात करना बिल्कुल बेमानी है।

यह सही है कि जैन, बौद्ध, हिन्दू मतों का आचार पक्ष लगभग समान था, वही बात मसीही या इस्लामी मतों में नहीं है, पर मनुष्य मत का कट्टर अनुयायी होते हुए भी देशकाल की सीमाओं से और उसकी अपेक्षाओं से मत के बाहर भी जीता है। यह भी सही है कि सर्वधर्म समभाव की बात बहुत दूर तक नहीं चल पाती इसलिए मतों से तटस्थता की बात पर बल दिया जाता है, कुछ अतिरिक्त और अपेक्षित बल, पर अकेले तटस्थता से काम नहीं चलता। प्रायः यह तटस्थता चालाकी होती है या फिर भयग्रस्तता। इसी से ऐसी तटस्थता की कोई संस्कृति नहीं होती। अलबत्ता ऐसी सहमी-सहमी तटस्थता या निरपेक्षता से अपसंस्कृति जन्म लेती है।

आनन्द कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है मनुष्य के अपने फैलाए मायाजाल से उद्धार सतही धर्मों या विश्वासों से नहीं होगा, उद्धार होगा, केवल उसके ऐसे सर्जनात्मक व्यापारों से, जहाँ वह अपने को खो-खोकर नया पाता रहेगा। आज का समय ऐसी सर्जनात्मकता की तलाश का समय है आचार्य नरेन्द्र देव ने संस्कृति

की सटीक परिभाषा दी है। संस्कृति मानव चित्त की खेती है। इस खेती में उर्वरता को सुनिश्चित करने के लिए खोदना पड़ता है, उलटना-पलटना पड़ता है, गुणवत्ता को उजागर करना होता है, दोषों को उखाड़कर फेंकना होता है। खेती की पैमाइश या हदबन्दी मात्र खेती नहीं है, खेती के साथ खटना और इस भाव से खटना कि यह खटना सबके लिए है, अकेले हम नहीं खट रहे हैं, न निरे अपने लिए खट रहे है तब खेती होती है। इसलिए संस्कृति में न कुछ पुराना दिया होता है, न कुछ नया उत्पन्न हुआ होता है। कुछ पुराना और कुछ नया दोनों होते रहते हैं, असल में जॉच ही संस्कृति है, यह जाँच करना तो व्यक्ति अपने ठीक ढंग से जीने के लिए करता हे, पर इस जॉच के बाद जो प्राप्त होता है, वह सबका होता है।

इस जॉच को चलाए रखने में राज्य की भूमिका कुछ हो सकती है क्योकि यह जाँच प्रारंभिक शिक्षा के समय से शुरू हो, तभी देशी सर्जनात्मक प्रतिभा का सही प्रस्फुटन होगा। हमारे यहाँ व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक अतिरिक्त बल है, जबकि व्यवसायों की दीर्घकालीन कोई योजना नहीं है। हुनर या कौशल सिखाने पर कम बल है क्योंकि अधिसंख्य हुनरमंद (हर क्षेत्र में) डिग्रीविहीन हैं। यदि वे शिक्षण के साथ जोड़े जाएँ, तो बच्चा अपनी रुचि का हुनर सीखकर साक्षर शिक्षित हो सकेगा। हुनर या कौशल के साथ ही अपने आप हाथों, आँखों, बुद्धि और हृदय का तालमेल होता चलता है, निरे श्रम से नहीं होता, मनोयोग से कौशल प्राप्त करने की प्रक्रिया में होता है। जब तक निरक्षर, पर कुशल और ज्ञानसमृद्ध लोगों की भूमिका शिक्षा में सुनिश्चित नहीं की जाती तब तक संस्कृति की प्रक्रिया ठहरी ही रहेगी। कलाकार स्वामीनाथन ने भारत भवन में जनजातीय कलाकारों को शिक्षा की भूमिका दी, इसका बड़ा ही गुणात्मक परिणाम हुआ। इसमें गलती यह हो रही है कि हम पश्चिमी रंग में डूबे होने के कारण इन अनपढ़ लोगों को प्रदर्शनी अधिक बना रहे हैं, अपने जीवन में उनकी गरिमा (सादगी, स्वच्छता और सौष्ठव) नहीं भर रहे हैं, उल्टे उनके विकास के नाम पर उनसे उनकी सहजता छीन रहे हैं। सरकार केवल यही करे कि उनके बीच, जो किसी भी कला-कौशल से जुड़े हैं, उनके पास कुछ होनहार बच्चों को भेजे, युवकों को भेजे। संस्कृति सफेदपोशी मात्र नहीं है और सादी पर भव्य सफेदपोशी भी आप जनजातीय जीवन में अधिक पा सकते है। मुख्यधारा में उनको लाने के बजाय मुख्यधारा को वहाँ ले जाना होगा।

राज्य के हस्तक्षेप का जहाँ तक सवाल है, वहीं राज्य या राजनीति में भी हस्तक्षेप की आवश्यकता की बात करनी चाहिए। अपसंस्कृति के प्रचार में यदि राज्य प्रोत्साहन दे रहा है तो उस पर रोक सांस्कृतिक संस्थाएँ ही लगा सकती है। राज्य जब निरी सत्ता बनकर सोचता है तो सांस्कृतिक प्रक्रिया बड़े भयंकर दबाव

मे आ जाती है पर कभी-कभी कम सबल संस्कृतिकर्मी इस दबाव में टूटने लगता हे ओर सांस्कृतिक प्रक्रिया की धारा क्षीण हो जाती है। संस्कृति राज्य की व्यवस्था को जाँचती रहती है। उससे व्यवस्था बेहतर ही होती है। ऐसी जाँच की प्रक्रिया को राज्य-निर्देश न देकर उससे निर्देश समय-समय पर लेना चाहिए।

इसी से जुड़ा हुआ सवाल है स्वयंसेवी कही जाने वाली संस्थाओं का। अकादमी हैं, परिषदें हैं और तमाम ऐसी संस्थाएँ हैं जो अतिसम्पन्न लोगों द्वारा चलाई जा रही हैं। सरकारी अनुदान से पोषित संस्थाएँ आर्थिक पक्ष के लिए ही राज्य की मुखापेक्षी हों, उनमें हर कोई केवल इसी नाते हस्तक्षेप न करने लगे कि जनता के पैसे से वह पोषित है। प्रायः ऐसे हस्तक्षेप स्वार्थ-प्रेरित होते हैं। राज्य मे इतना धैर्य होना चाहिए कि इन संस्थाओं में अगर कुछ राष्ट्र-विरोधी न हो रहा हो तो उन प्रश्नों का मंथन करने का दायित्व संस्था के विशेषज्ञों को सौंपे, इनका गोरव बनाए रखे।

भारत सरकार का संस्कृति विभाग संस्कृतिनीति की बात नये सिरे से कर रहा है। जिस किसी का अपने देशकाल से सरोकार है उसे खुलकर अपना मत प्रकट करना चाहिए, वह चाहे सरकारी संस्कृतिनीति का घटक हो न हो। अपसंस्कृति के फैलाव, उसके उकसावे को रोकने के लिए उपाय सोचें, संस्कृति सग्रहालयों में न रुँधे ऐसे संस्कार जगें तो देश का भी भला हो महादेश का भी। रूढ़ियों को तोड़ने का उत्साह रूढ़ि न पैदा करे, निरंतर अपने खुले आकाश से विश्व के नये आकाश को संपृक्त करें, तभी कोई अर्थ होगा। व्यवस्था को लचीली बनायें जिससे खुली हवा में साँस लेने जैसा महसूस करें। इन संस्थाओं को ऐसा घर बनायें जिसमें आदमी चीख सकता है, चिल्ला सकता है।

आसपास की छुअन की शुरुआत इन घरों से होगी, बशर्ते तंतुजाल न हो। मुझे विश्वास है कि मनुष्य अपनी संपूर्णता को पाने में समर्थ होगा और संपूर्ण से मुक्ति पाकर ही संभव होगा। संस्कृति किसी के एकाधिकार में नहीं, वह सबकी साझेदारी सुनिश्चित करने में है।

राज्य, राष्ट्रीय विकास और संस्कृति

यूनेस्को की रिपोर्ट की बात अपनी जगह बिल्कुल सही है कि विकास का कार्यक्रम संस्कृति की चिन्ता के बिना विफल रहता है, पर दुर्भाग्य की बात है कि अपने देश में सस्कृति विकास कार्य में सदैव हाशिए पर रही है। न तो विकास, संस्कृति से परिचालित है और न विकास, संस्कृति की अभिवृद्धि में वढ़ावा देने में समर्थ है। गाँवों के स्तर पर हमने विकास कार्यक्रम—चाहे वे शिक्षा के कार्यक्रम हों, चाहे स्वास्थ्य के कार्यक्रम हों, चाहे किसी के भी, परिवेश की आवश्यकता से, आकांक्षा और क्षमता से, बिल्कुल कटे हुए हैं। शिक्षा में स्थानीय परिवेश का कोई योगदान नहीं है और न ही रचनात्मक अभिव्यक्ति का। मौखिक परम्परा से दी जाने वाली कौशल की शिक्षा का विस्तार ज्यों-ज्यों होता गया त्यों-त्यों कौशल की शिक्षा कमतर होती गई है।

जितने भी विकास के कार्यक्रम बने हैं, वे गाँव के अनुरूप स्थापत्य में नहीं बने और न वहाँ पर इसका ध्यान रखा गया कि गाँव में एवं उसके आसपास के वनों में औषधियों की पहचान से जो सामान्य चिकित्सा होती आई है उसका प्रयोग जारी रखा जाना चाहिए। इसी प्रकार खेती में बीजों की विविधता को समतल करते हुए विविध सृष्टि की संभावना को ही समाप्त किया गया है, उसकी लेशमात्र भी चिंता दिखाई नहीं पड़ती।

संस्कृति-निधि निराकार नहीं होगी, उसका कुछ निश्चित आकार होगा और जीवन के विभिन्न कार्यों में परिलक्षित होगी। अतः समग्र दृष्टियों से इसके पुनरालोचन की आवश्यकता है और सभी विकास कार्यों को इस केन्द्रभूत सांस्कृतिक बीज के अंकुरण की अपेक्षा के साथ समुन्नत करने के संबंध में पहले खुली बहस होनी चाहिए और इस बहस में अनपढ़, शिक्षित, कुशल लोगों को सम्मिलित करना चाहिए। उसके साथ ही अन्तिम रूपरेखा तैयार की जानी चाहिए।

प्रायः संस्कृति के केन्द्रीकरण से बचने की बात कही जाती है, वह अपनी जगह ठीक ही है। पर केन्द्र यदि केवल उपभोक्ता संस्कृति के दबाव को कम करने का उपक्रम करें तब तो जीवन की गुणवत्ता से जीवन की आवश्यकता जो नही हे वह भी विज्ञापनों में बार-बार दोहराई जाती है क्योंकि उससे पैसा मिलता है। इन विज्ञापनों में जिस तरह देह की व्यावसायिकता बढ़ी है, वह स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर आदरभाव को निःस्थापित करके आखेट-आखेटक भाव को जन्म देती है जो मानसिक, दैहिक और सामाजिक विकास के लिए अत्यन्त भयावह स्थिति बन सकती है। सरकार के एक हाथ दूर रहने की बात की जाती है, लेकिन सरकार स्वयं विज्ञापन की स्वस्थ नीति बना दे, यही दूरी संस्कृति के विकास को उकसाव देगी।

संस्कृति अनेकान्त नहीं है, न ही वह एकान्त है। संस्कृति विभिन्न प्रकार के स्वभावों के लोगों के आपस में मिलने-जुलने के विचारों के लेन-देन से रचनात्मक क्रियाओं के तनाव की एक सतत प्रक्रिया है जो तोड़ती-जोड़ती, दबाती एक बदलाव के रूप में बराबर दिखाई पड़ती है। उसकी एकता, स्थिरता में नही पहचानी जाती, गतिशीलता में पहचानी जाती है। सामाजिक संस्कृति की बात जो की जाने लगी उसमें खोट यह है कि लोग संस्कृति को मिश्रण समझने लगते हैं जबकि मिश्रण है नहीं, वहाँ रचाव प्रधान है। यहाँ मैं यह भी कहना चाहूँगा कि लोक-संस्कृति, आदिवासी संस्कृति के जैसे बिलगाव भी जिस प्रकार से किए जाते है, वे भारत के सन्दर्भ में ठीक नहीं, यह सच है कि एक लम्बे अर्से से दुर्गम से दुर्गम जाल को एक जीवन्त विश्व-दृष्टि ने परस्पर पूरक भाव में बाँध रखा है। वन्य जीवन ने खेतिहर जीवन को, घुमन्तू जीवन ने घरू जीवन को और विलोमत खेतिहर जीवन ने वन्य जीवन को, घरू जीवन ने घुमन्तू जीवन को एक विरोधी के रूप में नहीं, पूरक के रूप में देखा है और इस दृष्टि से ही हमारी संस्कृति निरन्तर अपनी उदारता और सर्वग्राहिता कायम रखते हुए नई परिस्थिति और नई आकाक्षा मे समर्थ रही है।

लक्ष्य के संबंध में मुझे कुछ दो-तीन बातें कहनी हैं। सृजन के क्षेत्र में कोई दयनीय नहीं होता, दयनीय बनाकर रखना ही संस्कृति की अवमानना है, विशेष रूप से भारतीय संस्कृति की। जिन लोगों में अपनी सृजनात्मक संचेत्यता नही है, उनमें संचेत्यता जागृत करने के बजाय, उनसे सीखने का कोई प्रयत्न किया जाये तो उन्हें वैसे विश्वास हो जायेगा कि उनका सृजनात्मक कार्य सार्थक है, यही दृष्टि होनी चाहिए।

राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार सस्कृति से जुडी हुई सस्थाओं को

आश्रय न देकर यदि उनके द्वारा किये गये कार्यों को जीवन की आवश्यकता से जोडने का वातावरण तैयार करायें और लोगों में ऐसी रुचि जागृत करें कि लोग अपने घरों को कबाड़-खाना बनाने के बजाय, करीने से अपने परिवेश की रचना से सुसमृद्ध बनाने का और उपक्रम करें, जो गाँव और वन के समाज में सहज रूप से कला का स्थान रहा है, उसे लौटाने के लिए प्रौढ़ शिक्षा, स्कूली शिक्षा, स्त्री शिक्षा और स्वास्थ्य शिक्षा के उपक्रमों को जोडने के लिए शासन मन बनाये तो अपने आप उसका असर होगा।

राज्य की सस्कृतिनीति के कार्यान्वयन का प्रश्न स्पष्ट नीति-निर्धारण या सक्रिय तटस्थता की नीति के निर्धारण के बाद उठता है। यहाँ यह बल देना चाहूँगा कि नीति एक तरफ रही है, उसका क्रियान्वयन दूसरी तरफ रहा है। मेरी दृष्टि मे इसका मुख्य कारण यह है कि रूढ़ि तोड़ने के नाम पर परम्परा के जीवन्त अंश को निरन्तर तोड़ने की कोशिश हुई है और इसी में बहुत-सी स्वस्थ परंपराएँ विकृत हो गई हैं या मुरझा गई हैं। हाँ, यह अवश्य है कि अभी भी बीज हैं और उन बीजों को हवा-पानी चाहिए।

आचार्य नरेन्द्र देव की परिभाषा के अनुसार संस्कृति मानव चिन्ता की खेती है, इस मानव चिन्ता का निरन्तर संस्कार होता रहना चाहिए। इस संस्कार में यह शामिल है कि अपनी सांस्कृतिक यात्रा की परतों को बार-बार उलटते-पलटते रहे। यह उलटना-पलटना ही जातीय-स्मृति का पुनः आकलन है।

हमारे सामाजिक जीवन में यह आकलन लुप्त हो रहा है। इसके लिए सरकार सबसे पहले यह काम कर सकती है कि सूचना एकत्र करे कि कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में यह जातीय स्मृति है और इस सूचना को केवल दस्तावेज न बनाया जाये, बल्कि उस पर बहस भी कराई जाये।

जहाँ तक कार्य-योजना का प्रश्न है, वह मेरी समझ में किसी परिषद की रचना से पूरी नहीं होगी। परिषद तो केवल कुछ सांस्कृतिक गतिशीलता के अवरोधों की चिन्ता जगा सकती है और एक व्यापक चेतना समूह संचार के माध्यम से जाग सकती है, कार्यान्वयन तो अपने आप होगा, शासन की समस्त योजना-नीति में ही परिवर्तन होना है ताकि अलग-अलग कार्यक्रम अन्वित हो पर वैविध्य का ध्यान रखने वाले कार्यक्रम हों।

उसके लिए अनेक सांस्कृतिक संवाद होने चाहिए, उनसे बहुत कुछ ऐसा मिलेगा जो हम पढ़ों के दिमाग में आ नहीं पा रहा है। संस्कृति न राज्य से परिचालित है न किसी मानी हुई राष्ट्रीयता के दबाव से, वह परिचालित होती है अपने भीतरी दबावों से [illegible] ओं से और संस्कृत जन के स्पन्दनों की

तीव्रता से। उस स्पन्दन को, उस धड़कन को पहचानने का प्रारम्भिक काम भी अपनी नेकनीयती से नहीं हुआ है। सब पहले ही मापी हुई धड़कन पढ़ते रहते हैं, क्योंकि भाव दूसरा कुछ सुनने का नहीं, इसलिए पहली आवश्यकता सीखने से ज्यादा अनसीखने की है। कुसंस्कारों से मुक्ति के बाद ही सही-सही क्षितिज उभरेगा, अभी हमारा क्षितिज किसी कल्पित तस्वीर के आईने में पड़े प्रतिबिम्ब की तरह अवास्तविक है।

राजनीतिक संस्कृति

अनेक राजनीतिक पार्टियों का होना जनतन्त्र के स्वास्थ्य के हित में है। लेकिन उसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हर राजनीतिक पार्टी की कुछ सिद्धान्तों के प्रति, संगठन के प्रति और कार्यपद्धति के प्रति प्रतिबद्धता होनी चाहिए और इसका प्रशिक्षण नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर तक होना चाहिए। इससे मतदाता सम्बद्ध पार्टी से अपने विवेक से और अधिक गहराई से अपनापन स्थापित कर सकेगा। ऐसा नहीं होता है तो एक उच्छृंखलता जन्म लेती है और बाहुबल और धनबल प्रबल होने लगता है, जिससे अच्छे जनतंत्र के विकास मे बाधा तो पड़ती ही है, साथ ही साथ आतंक और अनाचार की वृद्धि भी होने लगती है। भारत की जनता यदि कुछ दशकों से इस प्रकार की राजनैतिक कुसंस्कृति को तरह दे रही है तो वह सिर्फ इसलिए कि भारत की जनता एकतत्र नहीं चाहती। वह विचारों की विविधता को बड़े लम्बे समय से स्वीकारती रही है। विचारों की स्वतंत्रता इतने सहज भाव से यहाँ स्वीकृत थी, उसका कारण भी यही रहा है कि यहाँ आचार की कुछ मर्यादाएँ सबको मान्य रही हैं। आचार की इन मान्यताओं में सचाई पर टिके रहना, दूसरों की ओर से भी सोच सकने की क्षमता रखना, साझेदारी की भावना रखना और संग्रह करना, पर उसको बाँटते रहने मे सुख पाना, पूरे विश्व को पारिवारिक रिश्ते में बँधा देखना और एक-दूसरे में अपनी पूर्ति पाना, ये सभी बातें मुख्य रूप से सम्मिलित थीं। इसी के कारण इस देश मे नस्लें घुली-मिलीं, बाहर से लोग आये और जुड़ते गये। सब एक राह पर नहीं चले, तब भी एक-दूसरे की राह का आदर करते रहे। स्वाधीनता की प्राप्ति के पहले विभिन्न विचारधाराओं के लोग थे, लेकिन सबसे बड़ी संख्या में वे लोग थे जो देश की आजादी को सबसे बड़ा लक्ष्य मानते थे और उसके लिए हर प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार रहते थे। उन्हें किसी पुरस्कार की आशा नहीं थी। इसलिए उस समय अपने आप एक काडर बना हुआ था। इसके बावजूद महात्मा गांधी ने कई की नींव डाली जैसे गुजरात विद्यापीठ काशी विद्यापीठ

प्रचार सभा, दक्षिण भारतीय हिन्दी प्रचार सभा आदि जिनमें विधिवत् आज़ादी की लड़ाई लड़ने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता था।

आज ऐसी कोई भी संस्था नहीं है और विश्वविद्यालयों में हर पार्टी उन लोगों में से अधिकतर ले रही है जो किसी सिद्धान्त के प्रति अर्पित नहीं होते ओर जो सत्ता में आता है उसका जयकार मनाने के लिए और नेता की जय-यात्रा की ठेकेदारी के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। इस प्रकार प्रायः रैलियों, सभाओं में उपस्थिति विश्वसनीय और सही मानदंड नहीं होती। लोग बुलाये जाते हैं, लोगों को खर्च दिया जाता है इसलिए ऐसे लोगों की अपील पर जो जनतंत्र चलता है, वह जनतंत्र खिसकते बालू की तरह स्थिर नहीं रह पाता। आज स्थिति यह हो गयी है और यह स्थिति बहुत खतरनाक है कि राजनीति पर से लोगों का विश्वास उठने लगा है और लोग सोचने लगे हैं कि राजनीति और ईमानदारी का कोई संबंध नहीं है। सही बात यह है कि बिना सही राजनीतिक चेतना और उसके सही संगठन के ईमानदारी भी सुरक्षित नहीं है। सही राजनीति ही ईमानदार और सही रास्ते पर चलने वाले नागरिकों के मन को आश्वासन देती है। किसी भी समाज को चलाने के लिए एक व्यवस्था चाहिए। उस व्यवस्था में राजनीति का एक हिस्सा है और आज के जीवन मे तो उसका हिस्सा काफी बड़ा है क्योंकि आज कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ पर जगली फलमूल से जीवन बिताने वाले स्वतंत्र छोड़ दिये जाते हों और वे समाज के नियामक बन सकते हों, जैसी कभी रही होगी। सब एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं ओर इस अवलंबन को सुनिश्चित करने के लिए ही आज राजनीति की बहुत बडी भूमिका है विशेष कर जनतांत्रिक राजनीति की।

अब समय आ गया है कि राजनीति की अपनी संस्कृति विकसित हो। लोग अलग-अलग मत रखें पर व्यक्तिगत सम्बन्धों को भी बनाये रखें। मत के आधार पर जहाँ से चुने जायें, वे केवल अपने दल के लोगों के ही प्रतिनिधि न हों, पूरे निर्वाचन क्षेत्र के प्रतिनिधि हों और पूरे निर्वाचन क्षेत्र के लिए कार्य करें। जिस राज्य की विधानसभा के सदस्य हैं, उस समग्र राज्य की चिन्ता करें। अपने क्षेत्र का आग्रह उतनी ही दूरी तक रखें, जितना उसके हिस्से में आता हो। इससे न केवल राजनीति की विश्वसनीयता बढ़ेगी, देश का विकास भी अधिक तीव्र गति से होगा और अधिक सन्तुलित रूप में होगा जो अभी नहीं हो पा रहा है, सिर्फ इस कारण कि खींचतान बहुत अधिक है और उलट-फेर भी ज्यादा। एक राजनीतिक दल सत्ता में आता है, कुछ निर्णय करता है और दूसरा राजनीतिक दल सत्ता मे आता है तो पिछले सारे निर्णयों को उलटने की कोशिश करता है। इस प्रक्रिया ने नौकरशाही की को भी प्रभावित किया है और अब तथ्यों के आधार पर

समग्र हित का ध्यान रखकर निर्णय लेने वाले अफसरों की संख्या घटती जा रही है। चापलूस, चुगलखोरों की संख्या बढ़ रही है। इस स्थिति का निदान अच्छी राजनीतिक संस्कृति का विकास ही हो सकता है।

आये दिन पार्टियाँ टूटती हैं, प्रायः सिद्धान्तों के आधार पर नहीं बल्कि छोटे-छोटे अहंकारों के आधार पर। वे न टूटतीं यदि कुछ जोड़ने वाले सैद्धान्तिक आधार होते और प्रत्येक दल में एक सुनिश्चित अनुशासन निहित होता। मुझे स्मरण है कि राजर्षि टंडन को कांग्रेस अध्यक्ष पद से इस्तीफा देने की विवशता हुई थी और उन्होंने इस्तीफा दिया। बहुत से लोग आये और कहा कि आप कांग्रेस छोड दीजिये। मैंने भी एक बार पूछा कि बाबूजी इस कांग्रेस से आप क्यों चिपके हुए हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि मैं संतो, फकीरों का अनुगामी राजनीति में गया तो लगा कि गलती की, पर अब दूसरी गलती नहीं करूँगा कि जिस पार्टी में गया, उस पार्टी को छोड़कर दूसरी पार्टी में जाऊँ। वकील एक पक्ष का वकील होता है तो दूसरे पक्ष से कितनी भी फीस मिले तो उसका वकील नहीं होता। राजनीति मे भी कोई ऐसा नैतिक मानदंड होना चाहिए और फेरबदल करने वाले की प्रतिष्ठा न हो, इसके लिए हर राजनीतिक पार्टी को कुछ न कुछ कड़े नियम बनाने चाहिए। यह मान लेना कि व्यावहारिक दृष्टि से यह संभव नहीं है और राजनीति में तो सब चलेगा, भ्रष्टाचार भी चलेगा, बाहुबल का सहारा लेना भी आवश्यक होगा, धन उचित या अनुचित तरीके से उगाहना भी आवश्यक होगा, और इसके बिना राजनीति चलेगी कैसे, दूरगामी दृष्टि से बुद्धिमानी नहीं है। संसार ईमानदारी पर टिककर ही चला है, बेईमानी से नहीं चला है। यहाँ तक कि चोरी करने वालो के बीच भी एक ईमानदारी होती है। वे ईमानदारी से अपना क्षेत्र बाँटते हैं, चाहे वह ईमानदारी एक सीमित क्षेत्र में ही क्यों न हो। ईमानदारी को जीवन का धर्म न भी मानें, केवल पॉलिसी या नीति मानें तो भी समाज को चलाने के लिए एक राजनीतिक ईमानदारी का मापदंड निर्धारित किया जाना ही चाहिए। हाँ यह जरूर है कि यह ढोंग या नाटक न हो। एक घोषणापत्र न हो। यह साफ-साफ प्रतिदिन के आचरण में अपने आप दिखाई पड़ना चाहिए। यह असम्भव नहीं है। हमारी आँखों के सामने ऐसी भी विभूतियाँ हुई हैं, जिन्होंने राजनीति मे कोई कमाई नही की। श्रद्धेय बाबू सम्पूर्णानन्दजी जब मरे तो उन्होंने अपनी अन्येष्टि की व्यवस्था के लिए भी पैसे नहीं छोड़े थे, स्व. श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के पास ऐसा कोई कुर्ता नहीं था जिसमें पैबन्द लगे हुए नहीं हों। यह भी नहीं है कि उनको सम्मान या प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हुई हो। यह फकीरी ठाठ दयनीय नहीं स्पृहणीय भी है राजनीति में भी लोग ऐसी विभूतियो से रश्क करते थे कि कैसे ये बेताज

बने हुए हैं। डॉ. राममनोहर लोहिया के खाने की थाली में कोई उत्तम पदार्थ आ जाता तो भरसक उसे अपने किसी साथी से यह कहकर बँटा लेते थे कि लो यह तुम्हें पसन्द है। मैंने स्वयं देखा है। कोई एक बढ़िया रेशमी कपड़ा लाया और बोला कि डॉक्टर साहब आपके लिए कुर्ता वनवा दें। उन्होंने पास बैठे एक साधारण से कार्यकर्ता से पूछा कि तुम्हें यह कपड़ा कैसा लगता है। उसने कहा बहुत बढ़िया है और डॉ. लोहिया ने तत्काल आदेश दिया कि उसके लिए कुर्ता सिलवा दिया जाये। वह नहीं-नहीं करता रहा और डॉक्टर साहब ने उस कपड़े से उस साधारण आदमी की रुचि का आदर रखने के लिए कुर्ता सिलवा दिया।

आज भी यह संभव हो सकता है यदि सभी राजनीतिक पार्टियाँ इस प्रश्न पर गहराई से सोचें और जिस शक्ति का अपव्यय वे प्रदर्शनों में करती हैं, उस शक्ति का उपयोग संगठन में करें, जितने लोगों को साथ रखें उनको परखें, उनके सुख-दुख के साथी बनें और प्रतिबद्ध समर्थन से अपना नेतृत्व चलायें। हाँकी हुई जनशक्ति के बल पर अपना नेतृत्व न चलायें। यह सब निश्चित करें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक चरित्र एकदम ऊँचा उठ सकता है और जनतंत्र का नया अभ्युदय हो सकता है।

उदाहरण के रूप में इस राजनीतिक संस्कृति की कुछ ऐसी प्रतिज्ञाएँ हो सकती हैं :

1. राजनीतिक दल सकारात्मक रुख अपनायें और किसी पार्टी को उखाड फेकने के स्थान पर उसके सिद्धान्तों को गलत साबित करने के लिए अपने सिद्धान्तों की अच्छाई समझाएँ। सत्ता दूसरी पार्टी के हाथ में जाने पर ऐसा रुख न अपनाएँ कि पिछली सरकार की नीति में संशोधन हो ही, लेकिन उसके द्वारा शुरू किये गये कार्यक्रमों को न रोककर के उन्हें मौका दें। यदि वे कार्यक्रम विफल होते हैं, तव परिवर्तन करें।

चुनाव का मुद्दा कार्यक्रम और सिद्धान्त दोनों पर होना चाहिए। पर दूसरे सिद्धान्तों को काट देने से ही अपना सिद्धान्त स्थापित नहीं होता। दूसरे कार्यक्रमों की अनुकूलता स्वीकार करने में और एक रिक्ति को भरने में नये कार्यक्रमो की विश्वसनीयता सिद्ध होती है। व्यवस्था की निरंतरता सभी राजनीतिक पार्टियो के लिए आवश्यक है। और इसीलिए एक सही तथ्य देने वाली और सही परिदृश्य उपस्थित करने वाली नौकरशाही की जरूरत पड़ती है।

2. सभी राजनीतिक दल एक वार निश्चय कर लें कि रैलियों और प्रदर्शनो मे समय और शक्ति का अपव्यय न करके गाँव-गाँव, मोहल्ले-मोहल्ले जाकर लोगो की   और लोगो की सामर्थ्य को समझने का प्रयास कर तथा लोगों के

भीतर जो चहुँमुखी विकास करने का उत्साह है, उसमें सहयोग करें। उससे प्रत्येक पार्टी का जनाधार टिकाऊ और मजबूत होगा। इससे बीच में प्रदर्शन के नाम पर दलाली करने वाले लोगों की भूमिका अपने आप कम हो जायेगी और बाहुबल, धनबल का अपप्रयोग भी कम हो जायेगा।

3. संसदीय जनतन्त्र में विमति को बड़े आदर का स्थान प्राप्त है, पर उसके साथ ही आपसी समझदारी के लिए अलिखित करार का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इससे व्यक्तिगत कटुता कम होती है और लोग भिन्न पार्टी में रहते हुए भी सोहार्द के सम्बन्धों से जुड़े रह सकते हैं। यह जुड़ाव जनतंत्र के स्वास्थ्य के लिए हितकर होता है।

4. कुछ क्षेत्रों को सभी राजनीतिक पार्टियाँ अपने दबाव और अपने हस्तक्षेप से मुक्त कर दें तो उन्हें अपनी रीतिनीति की जाँच के लिए सजग, सजीव प्रयोगशालाएँ मिल सकेंगी और उन्हें अपना आगे का रास्ता बनाने में बड़ी मदद मिलेगी। ये क्षेत्र हैं—शिक्षा, संस्कृति और स्थानीय निकाय। यहाँ पर पार्टी के हित की बात करने से या पार्टी के लिए आधार बनाने से हर पार्टी ऐसी राय से वंचित हो जाती है जो न मिलने से उस पार्टी का भविष्य अन्धकारमय हो जाता है।

ये तो केवल उदाहरणमात्र हैं। जब गम्भीरता के साथ हर पार्टी के विचारक सोचेंगे तो वे स्वयं इस संस्कृति के और सूत्रों की रचना कर लेंगे। अब ऐसा समय आ गया है कि कोई नये सिरे से नहीं बल्कि एक लम्बे अरसे की अंधाधुंध दौड़धूप के बाद साँस लेते समय जो एक ताजगी आती है उस ताजगी के क्षण में अपने को जाँचने के लिए सभी दल तैयार हों। तभी इस देश के गौरवशाली जनतंत्र को, एक तरह से विश्व के सबसे जागरूक और आस्थावान जनतंत्र को सही और सम्पूर्ण विकास की दिशा दे सकेंगे।

रूढ़ियों का उपनिवेश

समाज रूढ़ियाँ बनाता भी रहता है और आवश्यकतानुसार तोड़ता भी रहता है, रूढ़ियाँ हर व्यवस्था और हर व्यवहार के क्षेत्र में उपयोगी होती हैं। भाषा में जैसे प्रयोग रूढ़ियाँ होती हैं, साहित्य में जैसे कथानक रूढ़ियाँ होती हैं, वैसे ही लोक और राजनीति में भी रूढ़ियाँ होती हैं, जिनका यथावत् पालन किया जाता है। परंतु जब कभी रूढ़ि गति में रुकावट डालने लगती है, चाहे किसी क्षेत्र की हो, तो सर्जनात्मक प्रतिभा उसे तोड़ती है और उसका विकल्प देती है। कभी-कभी जो रूढ़ियों को तोडने का बीड़ा उठाता है, कर्मकाण्ड पूजापाठ के आडम्बर की व्यर्थता का संकल्प लेता है, उसके अनुयायी अपने उद्धारक की बातों को ही रूढ़ि बना लेते है। हिन्दुस्तान में कई पंथों के साथ यही हुआ। एक बात और, व्यवहार के क्षेत्र की रूढियों को तोड़ना आसान होता है। कमल-नयन न कहकर आम की फाँक जैसी ऑखें कहें, इससे न कमल की क्षति होती है, न नयन की, आम को भी कुछ विशेष लाभ नहीं मिलता, पर पूरी उक्ति अभीष्ट प्रभाव डालने में अधिक समर्थ हो जाती है। पूजा की कोई सामग्री सुलभ नहीं रहती तो विकल्प खोज लिये जाते हैं, स्वीकृत हो जाते हैं। परंतु जब विचार के क्षेत्र में कोई रूढ़ि बनती है, उसका टूटना और उसको तोड़ना दोनों बहुत कठिन हो जाते हैं। विशेषकर तब जब किनारों पर विज्ञान या इतिहास का ठप्पा लगा हो।

अंग्रेज आये, उनके साथ प्राच्य विद्या आयी, ओरियंटल ज्ञान का विकास आया। पहले देश में केवल ज्ञान था। अंग्रेजों के आने के बाद उसकी दो फाँके हो गयीं, ज्ञान और ओरियंटल ज्ञान। अंग्रेजों के साथ तुलनात्मक मिथकशास्त्र, तुलनात्मक भाषाविज्ञान और तुलनात्मक धर्म-दर्शन जैसी बातें आयीं और देशी मिथक, भाषा, धर्मदर्शन सब रूढि विशेष की चक्की में डाल दिये गये। यह रूढि थी यह कि आर्य जाति एक थी उसकी बहुतेरी शाखाएँ यूरोप में फैलीं

पश्चिमी एशिया में कुछ फैलीं, एक ईरान में आयी, एक भारत में, हिन्दुस्तान म ये आक्रामक होकर आये, इन्होंने यहाँ बसने वाली जातियों पर आक्रमण किया ओर अपने प्रभाव का विस्तार पश्चिम से पूर्व और उत्तर से दक्खिन तक किया। इसे चरम सत्ता मानकर और बातें जोड़ी जाने लगी। मोहन जोदड़ो की सभ्यता पर वैदिक आर्यों ने धावा बोला। वैदिक आर्यो ने द्रविड़ जातियों को दक्षिण की ओर धकेला।

इन आर्यों के रक्त मे मिश्रण हुआ। इस रूढ़ि को एक नाम हम दे सकते है—मैक्समूलर-मैकडानेल रूढ़ि। उन्होंने 800 वर्षों में ऋग्वेद से लेकर उपनिषदो के निर्माण का समय बाँध दिया। अब जो लोग इसका खंडन करने आये, उन्होंने बस समय को थोड़ा फैलाना चाहा कोई 4000 वर्ष पूर्व ईस्वी तक गया। तिलक 8000 वर्ष तक गये। पर सभी आर्य-आगमन की तिथि ही निकालते रहे। मजे की बात यह कि न कहीं भारी पैमाने पर युद्ध के ध्वंस के प्रमाण मोहन जोदड़ो, हड़प्पा मे मिलते हैं न वाङ्मय में कहीं बाहर से आने की स्मृति मिलती है। कोई छाप ऐसे सुदूर देश की प्रकृति की मनोरमता की नहीं मिलती, समानान्तर कथाएँ मिलती हे, पर सृष्टि का जो नक्शा वैदिक वाङ्मय से लेकर जैन वाङ्मय तक मिलता है, वह एकदम अलग है, वह नक्शा कुछ-कुछ मिलता है तो सन्थाल लोककथाओं में दिये गये सृष्टि के नक्शे से। जहाँ तक पुरातात्विक प्रमाणों का प्रश्न है, ईसा पूर्व 6000 ई में मध्य गंगा की घाटी में प्रतापगढ़ जिले में कुछ कंकाल अवशेष मिलते है, आदमियों के, पशुओं के, आदमियों की बनावट ऐसी है जो न नार्डिक है, न निग्रायड, न मंगोलायड, वह सबका मिश्रित रूप है। पशुओं में पालतू घोड़ों और गाय-बैलों की हड्डियाँ मिली हैं। इससे अपने आप 2000 वर्ष पूर्व आर्य-प्रव्रजन का मामला ठंडा पड़ जाता है। यह धारणा भी ध्वस्त हो जाती है जो घोड़े का आना आर्यो के आने के साथ जुड़ता है। एक तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि कोई ऐसी जाति उत्तर प्रदेश के मध्य तक बस चुकी थी, जो मिश्र रक्त की थी, जो खेतिहर हो चुकी थी, घुमन्तू नहीं थी, क्योंकि उसने धान के पौधे रोपे थे। ऋग्वेद के ऋषि भी गोरे, साँवले, कपिश (भूरे) सभी प्रकार के हैं। रंगभेद की कोई स्मृति हमारे वाङ्मय में नहीं है। आर्य का अर्थ समस्त संदर्भो में 'गुणसम्पन्न' है, श्रेष्ठ है, वह प्रजाति वाचक शब्द नहीं है। बौद्धों के यहाँ का आर्यसत्य आर्य जाति का सत्य नहीं, सभी जातियों का उत्तम सत्य है। संस्कृत नाटकों में पत्नी अपने पति को आर्यपुत्र संबोधित करती है, उसका अर्थ हे मेरे श्रेष्ठ श्वसुरजी के लड़के। अंग्रेजो के आने के बाद चमत्कार हुआ। आर्य जाति पैदा हो गयी- देशवाचक द्रविड शब्द भी हा गया और फिर क्या अपने आप यह तै हो गया कि हिन्दुस्तान

का पूरा इतिहास जातियों के संघर्ष का इतिहास है।

ऐसे इतिहास में जब गाँठ पड़ जाती है तो हम बस हमेशा द्वन्द्व ही देखते चले जाते हैं, द्वन्द्व की अपरिहार्यता देखते चले जाते हैं। अब इस गाँठ को खोलने का समय आ गया है। देश का इतिहास आक्रामकों और आक्रान्तों का, विजेताओं ओर विजितों का इतिहास नहीं है, वह साथ-साथ खेत-खलिहान में खटने वालों का इतिहास है, एक-दूसरे पर आश्रित शिल्पिकों का इतिहास है और एक साथ एक गुरु की छत्रच्छाया में बैठकर स्वाध्याय तप करने वालों का इतिहास है। इसी रूप में वह सर्जनात्मक है और वह सर्जनात्मक होने के कारण पुराना नहीं पड़ता। दूसरी सर्जना को जन्म देकर नया होता रहता है। हम इस चर्चा को खारिज करें कि कौन पहले बसा, कौन बाद में आया, इसका स्मरण करें कि साथ-साथ चलते हुए, संवाद करते हुए मन से मन मिलाते हुए, हमने क्या कुछ किया, जिसने किया, उसने अपना नाम भी कभी-कभी नहीं दिया, अपने को कृति में डालकर धारा बन गया। अलग-अलग आकार-प्रकार दिखते रहे, पर उनमें संगति बराबर तलाशी जाती रही। ऐसे में विसंवादी भी संवादी बनने को लाचार हो जाता है।

दूसरी आयातित पर एकदम ईश्वर-बनी रूढ़ि है विज्ञान की उन मान्यताओं की जो बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण तक ही खंडित हो चुकी है, पर हम अब भी 18वीं-19वीं शती के वस्तुवादी विज्ञान की समझ से ऐसे बँधे हुए हैं कि उसे छोड़ते समय हमारे प्राण जाने लगते हैं। विज्ञान विज्ञान ही तब होता है, जब बार-बार परीक्षित होता है और नये प्रयोगों से संशोधित-परिवर्धित होता है। एक ओर न्यूटन और डार्विन को नया ईश्वर का दूत हमने मान लिया, दूसरी ओर सेंट साइमस, देकार्त और उनके उत्तराधिकारी हेगेल और मार्क्स को द्वन्द्वात्मक चिंतन पद्धति का चरम सोपान मान लिया। यही नहीं हमने अपनी पूरी चिंतन-पद्धति को या तो अनदेखा किया या फिर उसके ऊपर इन्हीं विचित्र पद्धतियों को आरोपित किया। लोग इस रूढ़ि से ग्रस्त हुए तो अवसरवाद का मेल डार्विन के विकासवाद से करने लगे। वेदों में आदिम साम्यवाद देखने लगे, कबीर को वर्ग-संघर्ष का पितामह समझने लगे। पर यह गाँठ वैसे तो विश्व भर में खुल गयी। यहाँ उस गाँठ ने बहुत बड़ी क्षति की। उसने समृद्ध कल्पना वाले लोगों की रचनाशीलता को ही नारों में बाँध दिया, तुम बोनसाई (वामनी वनस्पति) बनकर शोभा पाओ। हम जो नये-नये अनुभव को पुराने अनुभवों की स्मृति से तोड़-जोड़कर अनुभव को समग्रतर करते रहने के अभ्यासी थे, वे सब अपना ही खंड-खंड करने लगे। हम भूल गये कि सब अंग हैं, अलग-अलग हैं पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, हमारा ध्यान संधि पर अधिक रहा जहाँ जोड़ दिखता नहीं समास पर कम समास में दो जुड़े

दिखते हैं, पर जोड़ भी दिखता है। हमारे लिए जो प्रकृति जड़ नहीं थी, जड़ हो गयी और हमने अपनी नदियों, अपने पर्वतों, वृक्षों से आत्मीयता का रिश्ता तोड़ने मे ही वैज्ञानिक समझदारी मानी। परिणाम हुआ ये सभी हमसे कटे, हम स्वयं भी कट गये। बड़े अपनत्व से। हम एक-दूसरे से निरपेक्ष रोटियाँ वनाते रहे। एक कोटि की दूसरे से अपेक्षा है, इसे झुठलाते रहे।

हम नये विज्ञान को अब भी बड़ी शंका की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि जानते है यांत्रिक विज्ञान तो मनुष्य को शक्तिशाली बनाता है, उसको मानना क्यों छोडे, हमारी तकनीकी और हमारी अर्थव्यवस्था इसी से खुल नहीं पाती, किसी डोर से बँधी चलती है। आज जरूरत है सही विज्ञान की दृष्टि विकसित करने की, जो वस्तुओं की परस्पर पूरकता, पदार्थ की किसी-किसी रूप में अनिश्चितता, एक की दूसरे से सापेक्षता और संबंधों के पिडन में ही वस्तु की वास्तविकता, इन सिद्धातो का प्रतिपादन करता है। ये सिद्धान्त हमारी जीवनशैली को भी प्रभावित करें, इसके लिए हमें मुक्त होना पड़ेगा। उपनिवेशवादी शक्तियों के द्वारा उपजायी रूढ़ियो से ओर रूढ़ियों के इस उपनिवेश से जिसने हमें एक ओर जरूरत से ज्यादा दीनहीन बनाया है, क्षमाप्रार्थी बनाया है, भिखमंगा बनाया है और दूसरी ओर जरूरत से ज्यादा गर्व से मतवाले हो रहे हैं, अनावश्यक रूप से विक्रम बजरंगी हो रहे है। स्वस्थ होने के लिए हम रूढ़ियों की बेड़ियों से मुक्त हों, विशेष रूप से ऐसी रूढियो की बेड़ियों से जिन्होंने विश्व युद्धों के द्वारा और सुधार के कार्यक्रमों के द्वारा सारी दुनिया को गर्क कर दिया है। इससे मुक्त होने की छटपटाहट उनको भी होने लगी है जिन्होंने दूसरों को वश में रखने की ये बेड़ियाँ बनायी थीं।

मानवभाव और मानववाद

यूरोप में मानववाद की बात पुरानी है और भारत में मानुषभाव की बात। दोनों में प्रायः लोग अन्तर नहीं करते और उससे बहुत-सी विडम्बनाएँ उत्पन्न होती हे। वर्तमान समय में वैल्यू के अनुवाद के रूप में मूल्य शब्द चल पड़ा है, वैसे इसी अर्थ में हमारी संस्कृति ने पुरुषार्थ शब्द दिया था, पुरुषार्थ का सीधा-सादा अर्थ तो मानव जीवन का प्रयोजन लगता है, पर पुरुष व्यष्टि मानव नहीं है, वह प्रत्येक मानव के भीतर रहने वाला समष्टि मानव है। चण्डीदास उसे 'मनेर मानुष' (मन के भीतर का मानुष) कहते हैं, वही सगुण भक्ति में आराध्य श्रीकृष्ण है, वही तमाम अन्य साधनाओं में बोधिसत्व है, तीर्थंकर है, गुरु है, या समूची गुरु परम्परा हे। उससे जुड़कर, उससे एकात्म होकर क्या प्रयोजन बनता है, वही पुरुषार्थ हे। पुरुष शब्द का मूल अर्थ ही है, देहरूपी पुर (नगर) में शयन करने वाला। पर वह क्षेत्र भी है, क्षेत्रज्ञ भी है। वह समस्त देह में व्याप्त है। इसलिए जीवन का प्रयोजन सबको लेकर। सबमें अपनी देह ही नहीं है, सभी देह हैं।

इतना हम समझ लें तो स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को केन्द्र में रखने वाला मानववाद इस मानुषभाव से, इस पुरुषार्थ से थोड़ा छोटा है और खोटा भी है। मनुष्य को केन्द्र में रखने से मनुष्य जीवन के बहुत बड़े हिस्से से कट जाता है, पशु-पक्षी-वनस्पति यहाँ तक कि नदी-पर्वत-भूमि जैसे ऊपर से जड़ प्रतीत होने वाले पदार्थ तक जीवन का विस्तार है, वह सब वस्तु बन जाता है और सबसे अधिक चेतन होने के कारण मनुष्य सबका स्वामी बन जाता है। यह भाव भी मनुष्य को अधूरा बनाता है, खण्डित बनाता है, तभी वह भयभीत होता है, भयभीत होने से ही हिंस्र होता है। जिसे अपना जीवन दूर तक पसरा हुआ दिखता है, उसे सहज अभय प्राप्त हो जाता है। वह सोचता है, यह पृथ्वी नहीं डरती, यह नक्षत्रमंडल नही डरता, गति के चक्र में हम किसी से टकरा जायेंगे, ऐसा भय इन्हें नहीं घेरता, वैसे ही हमें डरने की जरूरत नहीं। हम यह मानकर चलें कि सभी गतियाँ एक-दूसरे को आगे बढाने के लिए हैं एक-दूसरे को काटने या मिटाने के लिए नहीं हाँ कभी

आकस्मिक कुछ भी हो जाता है तो फिर ऐसी शक्तियाँ काम करती हैं कि सब ठीक हो जाता है, सामंजस्य हो जाता है, वैसी स्थिति हमारी भी है, कभी टकराव होते हैं तो फिर सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पूर्ण होने की, अखण्ड होने की आकांक्षा मनुष्य के भीतर सहज है।

इस सहज स्वभाव को ही हम प्रथम धर्म कहते हैं, पश्चिम के भी तत्व चिन्तक इसे प्रथम सिद्धान्त कहते हैं। परन्तु पुनर्जागरण के नाम पर 17वीं शताब्दी मे जो कुछ हुआ, उसमें जड़वादी दृष्टि मनुष्य पर हावी हो गयी, वह पूर्ण होने के बजाय प्रभु होने का स्वप्न देखने लगा। उसने मनुष्य के अधिकार की बात की, जीव के अधिकार की बात छोड़ दी। उसने सामाजिक न्याय की बात की, लोक मगल की बात छोड़ दी। उसने आदमी-आदमी के बीच बराबरी की बात की, आदमी-आदमी के बीच परस्पर अवलम्बन की बात छोड़ दी। इसी से नेशन (यह राष्ट्र का पर्याय अब बन गया है, पर वस्तुतः यह नस्ल की विशिष्टता या भिन्नता पर आधरित है, जबकि राष्ट्र, सबके साथ रहने से जो शोभा होती है उसका साधन है) की उत्पत्ति हुई। फिर युद्ध पर युद्ध हुए। युद्ध न भी हो, तनातनी बराबर बनी ही रहती है।

मनुष्य-मनुष्य का, मनुष्य और प्रकृति का एक-दूसरे से इस भाव से सम्बद्ध होना कि हम एक-दूसरे के आश्रित हैं, सही समान भाव है, समता है, सामंजस्य है, भेद को पूरक रूप में ग्रहण करना मनुष्य का स्वभाव है। इसको प्रथम धर्म मानकर चलते हैं तो प्रथम मानव मूल्य है अखण्डता की प्राप्ति, इस प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न होते हैं उसी से उद्भूत हैं सत्य और अहिंसा। सत्य इस पर बल देता है कि अपनी सीमाएँ, अपने अधूरेपन, अपनी अपर्याप्तता पहचानते रहो, कहीं तुम छोटे हो जाते हो तो उससे घबराओ नहीं, दुखी न हो, क्योंकि पूर्णता दूसरे को पाकर, दूसरे में अपने को पाकर होती है। इसलिए सत्य निर्मम होता है, कठोर होता है। इस सत्य से अकेले समाधान नहीं होता। जब हम सचाई की पहचान करने लगते है तो हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम दूसरे के सचाई के प्रयत्न को भी समझें, दूसरे की दृष्टि से भी सोचने के लिए तैयार हों, अन्यथा हम बस अपने सत्य की चौंध से अन्धे हो जाते हैं। यहीं अहिंसा की भूमिका आती है, अहिंसा का ही प्रकट रूपान्तर करुणा है, इसी को महाभारत में आनृशंस्य कहा गया है। आनृशंस्य का अर्थ है, मनुष्यभाव की हत्या न होने पाये, ऐसी सावधानी। किसी भी कर्तव्य के पालन में यह भाव बराबर रहे कि हम मनुष्य हैं, मनुष्य का सहजभाव दूसरे को आत्मीय मानना है। इस दूसरे में मनुष्य और वह भी अपनी नस्ल का मनुष्य ही केवल समाविष्ट माना जाता है, तभी मनुष्य सहज नही रह जाता

पश्चिमी या आजकल आधुनिक माना जाने वाला मानववाद इसीलिए असहज है, तनावपूर्ण है। वह एकरूपता की ओर ले जाने के लिए तकनीकी जाल रच रहा है। इसका आतंक ऐसा है कि हिन्दू समाज जो सदा उदार रहा, अब आधुनिक होने के चक्कर में मानववादी हो गया। मानववादी होकर वह निर्णय लेने लगा, उसकी करुणा नियंत्रित हो गयी, उसका सत्य खंडित हो गया। वह विशाल धर्म की भूमिका से उतरकर सीमित धर्म की भूमिका में आ गया। जो लोग आधुनिक होने के लिए ही हिन्दू धर्म की विशालता से अपने को तटस्थ रखते है, व हिंसा की घटनाओं को मानववादी दृष्टि से देखते हैं, पर वे बड़े पैमाने पर प्रकृति के साथ जो हिंसा हो रही है, उसके लिए बस चिन्ता करते हैं। इस भाव से वह मनुष्य के लिए हितकर नहीं होगा। मनुष्य के सुख में बाधा होगी। मानववादी दृष्टि यह सोच ही नहीं सकती कि प्रकृति मनुष्य की सहचरी है, सहचरी नहीं रहेगी तो साहचर्य नहीं रहेगा। साहचर्य नहीं रहेगा तो मनुष्य अपने आप नृशंस हो जायेगा, वह तब मनुष्य के प्रति भी नृशंस हो जायेगा।

आज की हिंसा का भीतरी कारण यह सीमित मानववाद भी है यह हम समझें और अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव, अपने सहज धर्म को पहचानें। जो इस धरती ने हमें दिये हैं, इस धरती के कुलपर्वतों ने दिये हैं, इसकी प्राणनाडियों सरीखी नदियों ने उसका स्मरण कराया है, हमारे वनों से आती हुई बयार ने कानों मे उसकी चर्चा की है, हमे अपनी बाँहों में घेरने वाले अनन्त सागर ने मनुहार किया है। मानुषभाव सबके ऊपर है, उसके ऊपर कुछ नहीं, इसका अर्थ मनुष्य को ईश्वर मानना नहीं, इसका अर्थ समस्त दिव्यता, समस्त ऐश्वर्य को मनुष्य की करुणा से और मनुष्य के आलोक से आपूरित मानना है। आज की परिस्थिति का समाधान मानववाद में नहीं मानुषभाव में है। मानववाद मनुष्य के अहंकार को बढ़ाता है और अहंकार को तोड़ता है। मानुषभाव रिश्तों पर, प्यार पर बल देता है, वह जोड़ता है। यह बात आज जितनी समझने की है, उतनी इसके पहले नहीं रही।

परम्परा का पुरुषार्थ

आधुनिकता और परम्परा दोनों शब्द यद्यपि काल-सापेक्ष हैं अर्थात् किसी काल के बिन्दु पर ही कोई वस्तु या कोई विचार आधुनिक होता है और किसी काल के बिन्दु पर ही कोई परम्परा सार्थक होती है। अन्तर इतना ही है कि आधुनिकता विशेषकर आज जिस अर्थ में गृहीत की जाती है वह आधुनिकता सम्पूर्ण की चिन्ता नहीं करती, जबकि परम्परा निरन्तर बदलते हुए भी सम्पूर्णता की चिन्ता करती है। इसलिए कल की आधुनिकता भी परम्परा में आत्मसात होकर के आगे कुछ नया समग्र बनाती है और परम्परा अपने पूर्ववर्ती विचारों का अतिक्रमण करके भी उन विचारों की तह कहीं न कहीं बनाये रखती है, क्योंकि हो सकता है कभी पीछे छूटे हुए विचार भी आगे आने वाले जमाने में अधिक महत्वपूर्ण हो जायें। तब उनकी फिर से जुताई करने पर उनकी उर्वरता उभर आयेगी।

आज आधुनिकता का आग्रह इतना नहीं रह गया है जितना आज के पचास वर्ष पहले था। उसका कारण यही है कि एक जीवन्त परम्परा के साथ आधुनिकता का टकराव होने के बाद दोनो ने दोनों को प्रभावित किया है और यही परम्परा का पुरुषार्थ है, आधुनिकता का प्रत्याख्यान या खंडन पुरुषार्थ नहीं है। आधुनिकता को समेटने की क्षमता और समेटकर अपने स्वरूप को अधिक व्यापक बनाने की क्षमता ही परम्परा का पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ में सहिष्णुता और ग्रहणशीलता तो महत्वपूर्ण है ही अस्मिता की तेजस्विता इन दोनों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यह अस्मिता उस लघु मानव की अस्मिता नहीं है जिसे आधुनिकता ने स्थापित किया। यह अस्मिता विराट सत्ता की प्रतियोगी आभ्यंतर मनुष्य की अस्मिता है। इस बात को समझने के लिए भारतीय सन्दर्भ में पिछले 200 वर्षों के इतिहास पर एक नजर डालनी होगी।

किसी भी परम्परा की शक्ति का अन्दाज तब लगता है जब उसकी मुठभेड परम्परा से होती है ऐसे नये आघात या ऐतिहासिक कारणों से आते

है जो एकदम अप्रत्याशित होते हैं। इसीलिए उनकी मार से बच पाना कठिन होता है। हमारी परम्परा को अनेक ऐसी चुनौतियाँ मिली हैं और उन चुनौतियों का परम्परा ने समय-समय पर उचित समाधान निकाला है। उन समाधानों के कारण परम्परा में अधिक ऊर्जा आई है और परम्परा आगे बढ़ी है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेज व्यवसायियों के आने के बाद और व्यवसाय के छद्म से अपना मायाजाल बिछा लेने के बाद भी परम्परा विशेष रूप से साहित्य और संस्कृति की परम्परा अक्षुण्ण रही। इसका प्रमाण अनेक विद्या क्षेत्रों में संस्कृत तथा फारसी में लिखे गये ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ दर्शन शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, तर्क शास्त्र, व्याकरण शास्त्र और साहित्य से सम्बद्ध हैं। अनेक ग्रन्थ शिल्प विद्याओं से सम्बद्ध हैं। इसी अवधि में काँगड़ा, गुलेर और गढ़वाली शैली का चित्रकला में विकास हुआ और एक-से-एक मनोरम चित्र रचे गये। एडम लाइटटर ओर मान्टग्रमरी के दिये गये वर्णनों से स्पष्ट है कि 1950 के पूर्व भारत की शिक्षा पद्धति यूरोप की अपेक्षा अधिक सुसमृद्ध थी, अधिक व्यापक थी और अधिक सर्जनात्मक थी। जिसे हम आधुनिकता कहते हैं वह इस अवधि में प्रायः बहुत दूर तक निन्दित थी। उसका मुख्य कारण यहाँ की समृद्ध और समग्र वाचिक शिक्षा की परम्परा थी जो लगभग हर गाँव में बिना किसी राजकीय सहयोग के बहुत ही नियमित रूप से चल रही थी। इस व्यवस्था में सबकी भागीदारी थी और इसलिए इस पर कोई ऐसा व्यय नहीं था जो किसी के लिए भार होता। रचनाकारों, कवियो, कलाकारों, गीतकारों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। छोटे-छोटे सामन्त गर्व का अनुभव करते थे कि हमारे यहाँ अमुक कवि हैं, अमुक कलावन्त है, अमुक चितेरे हैं। आधुनिकता का दौर एकदम से 1857 के बाद शुरू होता है जब भारत का पहला स्वाधीनता युद्ध दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में लड़ा गया और अंग्रेज जा न सके। इस आधुनिकता का आगमन तीन रूपों में हुआ। भाप से चलने वाले कारखानों के विकास के रूप में। दूसरे शब्दों में औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भ के रूप में। दूसरा रूप है शिक्षा का संस्थीकरण। शिक्षा को सरकार की मान्यता मिली और उसकी व्यवस्था का सरकारी ढाँचा तैयार हुआ। इस ढाँचे मे पडकर निकलने वाले लोगों को दफ्तरों में बाबूगिरी या किरानीगिरी सुलभ हुई, या छोटी पटवारीगिरी सुलभ हुई। जो उनमें अधिक प्रतिभाशाली हुए उन्हें डिप्टी कलेक्टरी तक मिली। बाद में इस नयी पद्धति से वकील, डॉक्टर निकले। तीसरा रूप था सांस्कृतिक और वैचारिक। एकाएक दो प्रकार के विचार आये। एक तो यह कि हर वस्तु की जाँच तर्कबुद्धि से करनी चाहिए ताकि उसे प्रमाणित माना जाये और इस कारण पुराण कथा को गप और इसलिए त्याज्य मानना चाहिए।

दूसरी ओर एक गौरवशाली अतीत की कल्पना की जाने लगी जिसमें हिन्दुस्तान का क्षेत्र बहुत बड़ा था। उसका विस्तार सुदूर दक्षिण एशिया तक था। उसकी संस्कृति पूरे एशिया में छा गयी थी। उसमें शिल्प, कला, साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान का अद्‌भुत विकास हुआ था, पर वह सब अतीत की बात थी। बनारस मे स्थापित संस्कृत कॉलेज के बारे में रिपोर्ट बनाने वाले अंग्रेज प्रशासकों ने यह कहा कि जो कुछ भारतीय परम्परा में धर्म की चिन्ता से जुड़े हुए नहीं हैं, जैसे व्याकरण शास्त्र, तर्क शास्त्र या गणित, ज्योतिष या आयुर्वेद या स्थापत्य शास्त्र उसी को महत्व देना चाहिए और बड़े-बड़े वेद, स्मृति, पुराण के बारे में ऐसी अश्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिए कि लोगों के मन ईसाई होने के लिए तैयार किये जा सकें। उसके ओर आगे आने वाले समय में आधुनिकता आई। वह अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त की फ्रांसीसी क्रांति के तीन मूल्यों स्वतंत्रता, समता और बंधुता की स्थापना के रूप मे आई। इसका प्रभाव सबसे अधिक पत्रकारिता के उदय पर पड़ा। उन्नीसवी शताब्दी के अंत में राष्ट्र की यूरोपीय अवधारणा और उससे उत्पन्न होने वाली अपरिहार्य प्रतिस्पर्धा का दौर आया जिसने उपनिवेशों का अधिक से अधिक दोहन किया। इस दोहन के अतिरेक ने तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की और 'अंग्रेज राज के मुखसाज में धन 'विदेस' चलि जात यहै अति ख्वारी' का दर्द जो भारतेन्दु की पंक्तियों में मिलता है वह नागरिक स्तर पर भी मुखर होने लगा। कुछ लोगों का मानना है कि स्वाधीनता की प्यास और राष्ट्रीयता की कल्पना भारतीयों में थी नहीं, अंग्रेजों के कारण उन्हें मिली।

बीसवीं शताब्दी में स्वाधीनता की प्यास अंग्रेजों की आशा के प्रतिकूल उग्र रूप लेने लगी और बंग भंग आन्दोलन बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में सशस्त्र क्रांति के रूप में सामने आया।

साहित्य और भाषा के रूप में आधुनिकता के दो और अस्त्र थे। एक तो व्यापारिक हित तथा मजहब के प्रचार के हित में एक सार्वदेशिक भाषा के मानक रूप की स्थापना हुई। दूसरा प्रभाव साहित्य में यह पड़ा कि जहाँ प्रकृति मनुष्य के जीवन में ओत-प्रोत थी, वहाँ प्रकृति रमणीय और भोग्य वस्तु के रूप में देखी जाने लगी। श्रीधर पाठक की 'कश्मीर सुषमा' जैसी कविताएँ इसी परिप्रेक्ष्य में देखी जा सकती हैं। यूरोपीकरण के अलावा आधुनिकता की एक और पहचान थी नस्लवाद। उन्नीसवीं सदी का चिन्तन, भाषा विज्ञान, जीव विज्ञान और समाज विज्ञान मे नस्लवादी चिन्तन। इसी चिन्तन ने आर्य-द्रविड़ संघर्ष की गाँठ हमारे सांस्कृतिक सन्दर्भ में लगाई। यह गाँठ आज भी खुल नहीं रही है बावजूद इसके कि हमारे किसी भी पुराने से पुराने वाङ्मय में इस नस्ल नामक वस्तु का कोई प्रमाण नही

मिलता। वर्ण का अर्थ नस्ल नहीं है। उसका अर्थ वर्गीकरण का एक प्रकार है। आधुनिकता से उत्पन्न इन सभी चुनौतियों को परम्परा ने कैसे झेला इसकी कहानी बडी दिलचस्प है। अंग्रेजों की दी गई न्याय व्यवस्था को जहाँ लोगों ने सम्मान के साथ स्वीकार किया वहीं अदालत में दिये गये बयान की सत्यता पर सन्देह का प्रश्नचिह्न भी लगा दिया। अंग्रेजी सीखने वालों ने अच्छी अंग्रेजी पढ़ी। उसमे कुशलता प्राप्त की वहीं मालवीयजी की आवाज में आवाज भी मिलाई कि 'सब मिल बोलो एक आवाज अपने देश में अपना राज'।

डार्विन के विकासवादी मनुष्य और न्यूटन के सृष्टि नियंता मनुष्य के प्रभाव से मनुष्य नाम का तत्व साहित्य में बहुत प्रतिष्ठित हुआ पर परम्परागत संस्कारो ने मनुष्य के अधूरेपन की बात की और प्रकृति के साहचर्य से उसकी समग्रता की भी बात की। भारत में विचित्र यूरोपीकरण हुआ। घर में देशीय विचार, देशीय आचार-पद्धति, देशीय रीति-रिवाज, दफ्तर में विदेशी ठाठ-बाट, विदेशी चलन और विदेशी रीति-रिवाज। इंग्लैंड में, भारत में कला विद्यालय चलाने के लिए भेजे गये हैवेल ने लिखा है कि बड़े-बड़े जमींदारों के घर ऐसे-ऐसे फर्नीचरों से पटे पड़े हैं जो एक तरह के विशुद्ध कबाड़ हैं। जबकि भारत में अपनी कारीगरी, अपना कला-कौशल बहुत समृद्ध है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक लगभग यही स्थिति थी, बल्कि स्वाधीनता आन्दोलन में तो निरन्तर यूरोपीकरण का उत्तरोत्तर तीव्रतर प्रतिरोध हुआ। यह अलग बात है कि अप्रत्यक्ष रूप में पश्चिम से आये हुए विचार हमारे भीतर आत्मसात होते गये। हमारी परम्परा की आघात बर्दाश्त करने की क्षमता और उसका प्रत्युत्तर न देकर उसका अतिक्रमण करने की क्षमता सबसे कम हुई स्वाधीनता प्राप्ति के बाद। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि रस्मी तौर पर हमारे प्रतीक वाक्य संस्कृत के हुए और राष्ट्रीय चिह्न स्वदेशी हुए और संस्कृति के विकास के नाम पर हमने संगीत, नाट्य, नृत्य का निर्यात किया; हमने अच्छे-अच्छे संग्रहालय बनाये और राष्ट्रीय स्तर की अकादमियाँ खोलीं पर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद आधुनिक विश्व की विचारधारा से परम्परागत अनुभव और ज्ञान को जोडने का प्रयत्न बहुत कम हुआ। परम्परागत ज्ञान को अंग्रेजों ने हाशिए में रखना शुरू कर दिया था। हम लोगों ने उन्हें स्वाधीन होने के बाद हाशिए से हटाकर बाक्स मे बंद कर दिया।

क्या परम्परा मुमूर्षु (मरने वाली) है अथवा क्या आधुनिकता ही परम्परा बन गयी है? इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ने जब हम चलते हैं तो हमें तीन बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि जिन्होंने क्लासिक शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक शिक्षा प्राप्त की उन्होंने आधुनिकता को आतंक के रूप में नहीं लिया। इसके उदाहरण

के रूप में लक्ष्मणशास्त्री जोशी, राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी ओर सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन का नाम लिया जा सकता है। इसके पहले के लोगो मे है सुधाकर द्विवेदी (भारतेन्दु के समकालीन), जिन्होंने ज्योतिष के क्षेत्र में अनेक उद्भावनाएँ कीं। गणनाथ सेन जिन्होंने आयुर्वेद के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया, कविता के क्षेत्र में स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद, रचना और शोध के क्षेत्र में श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी और रामावतार शर्मा, विष्णुशेखर भट्टाचार्य शास्त्री और कुप्पु स्वामी हरियन्ना के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भी परम्परा में परम्परागत दीक्षा लेने के कारण और अपने निजी संकल्प के कारण आधुनिकता को ग्रहण किया, किन्तु सहज रूप में। आनन्द कुमार स्वामी ने अनेक स्थलों पर यह बात कही हे कि आगे आने वाले समय में पश्चिम के ज्ञान और गुरु के बोध (विजडम) दोनो के संयोग से समग्र मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण होगा। उन्होंने जब कहा था तब उनकी बात इसलिए नहीं सुनी गयी कि तब तक विज्ञान के क्षेत्र में नये क्रांतिकारी विचार आये नहीं थे। जिन्होंने न्यूटन के विश्व को अस्वीकृत कर दिया और एक नये अनन्त और अनिश्चितता के रहस्य से भरे विश्व का दृश्य उपस्थित किया। जिसमें सब एक-दूसरे के पूरक हैं। अपने आप में कोई इकाई या अव्यय पूरा नही है।

पर आधुनिकता को आतंक न मानना अभिलक्षणा मात्र है स्वाधीनता के अपने संकल्प का। असली बात यह है कि जो अपनी जमीन पर खड़े होकर अनेक प्रकार के झंझावातों का आघात ग्रहण करता है वह निश्चिन्त रहता है कि ये आघात हमें अपनी जमीन से अलग नहीं कर सकेंगे। वह अपने सोच के अनुसार निर्णय लेता है। परम्परा विशेषकर हमारी परम्परा अस्वीकारी परम्परा नहीं है पर किसे स्वीकार करना चाहिए, किसे नहीं इस पर गम्भीर विचार-विमर्श वह करती ही है। कभी-कभी इसी से कुछ कम गतिशील दिखाई देती है पर उसमें बार-बार एक खुलापन रहता है। वह उसी खुलेपन के कारण अतिक्रमण करती रहती हे। परम्परा शब्द का अर्थ ही है पर के बाद आने वालों पर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ। सतही तौर पर तो लोग कह सकते हैं कि परम्परा तो अतीत को सतयुग मानती है और आज के युग को कलियुग अर्थात् छल का युग। वह कैसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ को स्वीकार करेगी। पर गहराई से विचार करेंगे आप देखेंगे कि किस प्रकार मोक्ष नामक चोथे पुरुषार्थ की बात में मोक्ष का अतिक्रमण कर भक्ति पुरुषार्थ की बात आई और रामकृष्ण परमहंस के बाद भक्ति पुरुषार्थ का अतिक्रमण सहज मानुषभाव की श्रेष्ठता ने किया। क्योंकि सहज होना ही भक्त होने का सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण है परम्परा कोई ऐसा जडा हुआ चौखटा नहीं है जिसमे नयी-नयी तस्वीरें

फिट कर ली जाती हैं। परम्परा तस्वीरों में छा जाने वाला रंग है। नयी तस्वीरों में छा जाने वाला रंग। इसलिए वह निरन्तर एक मूल पाठ को स्वीकार करते हुए भी, उसकी दिव्यता को स्वीकार करते हुए भी देश और काल की अपेक्षा से उसके नये निर्वचन करती है। इन नये निर्वचनों से परम्परा देखने में नये आकार ग्रहण करती है परन्तु वह वस्तुतः अधिक सम्पूर्णतर होती चली जाती है। जिस मनुस्मृति की घनघोर आलोचना की जाती है उसी मनुस्मृति का प्रतिज्ञा वाक्य है कि आगे जो इस ग्रन्थ में लिखा जा रहा है, उसका ज्ञान चक्षु से देखकर ही और देशकाल के साथ जोड़कर ही समझने की कोशिश की जाये। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी मूल्य पर परम्परा मनुष्य को खंडित नहीं देखना चाहती। न मनुष्य से न प्रकृति से। और वह वर्तमान को विशेष महत्व देती है क्योंकि वर्तमान से कटकर परम्परा रूढ़ि है। आधुनिकता हमारे बहुत से तकनीकी चकाचौंध से ग्रस्त लोगों के मन में बसी हुई स्वयं रूढ़ि बन चुकी है। इस रूढ़ि बनी आधुनिकता से परम्परा ही मुक्ति दिला सकेगी। क्योंकि निरंतर प्रवाहशीलता है इसलिए परम्परा की सार्थकता विशेष रूप से हमारे सन्दर्भ में इसलिए है कि आधुनिकता की रूढ़ियों को तोड़ने के लिए सर्वत्र बेचैनी दिखायी पड़ती है, वह बेचैनी परम्परा के पुरुषार्थ से ही समाधान पा सकेगी और परम्परा ही सही आधुनिकता को नया और अभीष्ट आकार दे पायेगी।

अधूरेपन से पूर्णता की ओर

काशी में आने पर विश्व एक दूसरे रूप में दिखता है। काशी से वाहर जो कुछ है, वह तो दिखता ही है, कुछ अधिक अतिरेक के रूप में दिखला है। बुराई भी, भलाई भी, चातुरी भी, गावदीपन भी, असली भी, नकली भी, सबकी छटा यहाँ मिल जायेगी। एक ओर शिक्षा की चरम अधोगति दिखेगी, मालवीयजी महाराज सुने तो नींद नष्ट हो जाए, दूसरी ओर निष्काम भाव से विद्या की साधना, एक ओर तमाम तरह की प्रवंचनाओं के जाल, यह करने से यह सिद्ध होगा, यह करने से वह सिद्ध होगा, दूसरी ओर शुद्ध निष्काम निस्पृह सात्विक उपासना का आयोजन। इसलिए काशी आने पर पूर्णता का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसका अतीत जितना पूर्ण रहा है, उतना ही इसका वर्तमान भी पूर्ण है। अचेत रूप से काशी चित्काशी है, चैतन्य को प्रकाशित करने वाली नगरी है।

राजनीतिक दृष्टि से उपेक्षित हो कोई बात नहीं, व्यावसायिक दृष्टि से भी पुराना पड़ रहा है यहाँ का व्यवसायी कोई बात नहीं, कुछ न कुछ दूसरे क्षेत्रो मे नया उभरता रहता है। कोई न कोई विशेष स्पन्दन यहाँ अवश्य है, अन्यथा एक साथ औघड़ भगवान राम अवधूत और दूसरे आचार के स्वामी करपात्रीजी एक समय काशी में न होते और एक-दूसरे के प्रति आदर भाव रखने वाले न होते। एक साथ मधुसूदन सरस्वती जैसा परमहंस वेदान्त दर्शन का प्रखर पंडित और भक्ति काव्य की आनन्दमन्दाकिनी वहाने वाला और ठेठ देसी भाषा में राम का गुणगान करने वाले गोसाईं एक साथ न होते और संस्कृत के निर्जीव पण्डितों का गोस्वामी तुलसीदास पर आक्रमण एक ओर, और मधुसूदन सरस्वती की एक श्लोक मे तुलसी काव्य की आशंसा सबके विरुद्ध दूसरी ओर मुखरित न होती, इस काशी के आनन्दवन में तुलसीदास जंगम तुलसी के पौधे हैं, उनकी कविता मंजरी पर स्वय राम भ्रमर होकर सुशोभित होते हैं।

उन्हीं मधुसूदन सरस्वती के वारे में कथानक है कि गोरखनाथ ने कई शरीरो स जो प्राप्त कीं उन्हें एक सिद्धिशिला में न्यस्त कर दिया उन्हें

चिता हुई, नयी-नयी सिद्धियों के लिए नया कलेवर धारण करें। पर उसके पहले उपयुक्त पात्र मे इस सिद्धि का न्यास करना आवश्यक है। वे उपयुक्त पात्र ढूँढ़ने चले। काशी आये, गंगातट पर उन्होंने परमहंस मधुसूदन सरस्वती को देखा, समझा यही उपयुक्त पात्र है, याचना की, हमारा उद्धार करें, हमसे यह सिद्धिशिला ग्रहण करें, मैं इस शरीर से छुटकारा पाऊँ। परमहंस ने पूछा, आप कौन हैं और क्यों मुझे सोप रहे हैं यह सिद्धिशिला। मुझे तो सिद्धि चाहिए ही नहीं। गोरखनाथ ने उत्तर दिया--तभी तो आप उपयुक्त पात्र हैं और मधुसूदन सरस्वती ने दायें हाथ में शिला ली और बायें हाथ में लेकर उसे गोरखनाथ के देखते-देखते गंगा की धारा में दूर फेक दिया। गोरखनाथ ठठाकर हँस पड़े--यही इसकी सद्गति है, नहीं तो किसी अपात्र के हाथ में पड़ती तो जाने कितना इसका दुरुपयोग होता। मैं अब निश्चिंत हूँ।

उसी काशी नगर में दक्षिण से आये भास्कर राय बस गये, उसी में तैलग स्वामी रहे, उसी में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के गुरु स्वामी विशुद्धानन्द रहे, जिन्होंने अपनी सूर्य विद्या से पदार्थों का रूपान्तर करके दिखा दिया था। वही महामहोपाध्याय पं. शिवकुमार शास्त्री हुए, जिन्हें लोग विश्वनाथ का संचरणशील विग्रह मानते थे। इस नगरी की दो विद्याएँ प्रमुख थीं, व्याकरण और ज्योतिष, एक मुख, दूसरी ऑख, व्याकरण को विश्व को समझने के लिए पूर्णतः समर्थ दर्शन के रूप में काशी ने प्रतिष्ठित किया और महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी और बापूदेव शास्त्री जैसे ज्योतिर्विदों ने उन्नीसवीं शताब्दी के ज्योतिष ज्ञान के सामने चमत्कार ही उपस्थित कर दिया। संगीत के क्षेत्र में काशी का अवदान आज भी वैसी ही अविच्छिन्न गरिमा के साथ उद्भासित है।

यह भी सही है कि दामोदर गुप्त (आठवीं सदी के लेखक) के साक्ष्य से यह भी सिद्ध है काशी धूर्त्तता और वैश्विक जीवन की चालबाजी में अप्रतिम था, किसी न किसी रूप में वह सुयश भी सुरक्षित ही नहीं वृद्धि पर है। गलियों का सँकरापन और मन की उदारता, घाट पर नहाने वाले पंडितों का अर्ध दिगम्बर भाव ओर गुलाब और बेला के गजरों से सजी शाम की रईसी अवश्य अब कम हो रहे हैं, पर भीतर का विनोदी फक्कड़पन काशी की रग-रग में प्रवाहशील है।

इस काशी में कुछ अरसे बाद आया। सुना व्याकरण विधा के एक शिखर पडित कालिकाप्रसाद शुक्ल इस बीच दिवंगत हुए। वे वैयाकरण शिरोमणि तो थे ही, रससिद्ध भक्त कवि भी थे। उनका राधा काव्य साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित हुआ था। लोगों ने बताया उनके बारे में कोई खबर विशेषकर राजधानी में नहीं छपी मैं भी पहले तो बहुत दुखी हुआ फिर सोचा समय की गति

बलवान है।

एक ऐसा समय था कि नदिया में निहायत गरीब ब्राह्मण रहते थे रामनाथ तर्कवागीश। छोटी-सी मड़ैया, तीन बीघे खेत, एक इमली का पेड़, यही सम्पत्ति थी और इसी में से अपना, अपनी पत्नी का और अपने चार-पाँच शिष्यों का पेट भरते थे और अपने शास्त्र में मग्न थे। उनकी पत्नी शंख की चूड़ियाँ भी नहीं खरीद सकती थीं, सूत रंगकर कंगन बनाये हुए थीं, नदी नहाने गयीं, वहीं, नदिया की रानी भी दासी समेत पहुँचीं, वह नहाकर पहले ऊपर आयीं, रानी के वस्त्रों पर उनके गीले वस्त्रों के कुछ छींटे पड़ गये, दासी ने कहा ऐसे महादरिद्र की पत्नी जो शंख की चूड़ी भी नहीं जुटा सकता, ऐसा ताव रखती है। पंडिताइन भी तमककर बोलीं—जिस दिन तुम्हारी रानी का हीरे का कंगन टूटेगा तुम्हारी रानी विधवा होगी, उस दिन नदिया में कोई भी रोने वाला नहीं रहेगा, पर जिस दिन यह सूत का कंगन टूटा, उस दिन नदिया अनाथ हो जायेगी। रानी घर गईं। कोपगृह में बैठ गयीं, राजा तक समाचार पहुँचा, वे बजाय रानी को मनाने के सीधे पंडितजी के यहाँ पहुँचे कि मैं कितना पापी हूँ कि हमारे यशस्वी पंडित शंख की चूड़ी तक नहीं खरीद सकते, पंडित से अनुरोध करने गये कि राज्य से धन स्वीकार कर लें। वहाँ बैठे, परिचय दिया, पंडित ने आशीर्वाद दिया, राजा ने कुशल मंगल पूछा, पंडितजी ने उत्तर दिया, सब कुशल है। राजा ने डरते हुए उनसे पूछा—कोई विप्रतिपत्ति? (बंगला में इसका अर्थ है विपत्ति, विपन्नता, संस्कृत में एक और सन्देह) पंडित ने सहज भाव से उत्तर दिया, एक है। न्यायशास्त्र के हेत्वाभास प्रकरण में, पर आप उसमें क्या सहायता कर सकते हैं, करें तो बतलाऊँ। कुछ मौसम अनुकूल हो तो गुरुजी के पास जाऊँ तब सन्देह निवृत्त होगा। राजा हतप्रभ चले गये, पता लगाते रहे, पंडितजी जब अपने गुरुजी के यहाँ गये, तब पधारे और पंडिताइन के पैरों में पड़े मैं आपका पुत्र हूँ, राजा मानकर, पुत्र मानकर मेरी अभ्यर्थना स्वीकार करें। वत्सल माँ तैयार हो गयी और घर का स्वरूप बदल गया। पंडित आये, कुछ बोले नहीं, सिर्फ यही कहा—तुम सहधर्मचारिणी हो, तुम्हें अधिकार था, तुमने राजा से लिया, पर मैं इस राजकीय प्रतिगृह से जुड़कर विद्या की रक्षा नहीं कर सकूँगा।

तुम आधा खेत लेकर अलग हो जाओ। एक किनारे मैं नयी कुटिया बनाऊँगा। तुम राज बिलसो, मैं तो गरीबी में ही राज करूँगा। पत्नी पैरों पर पड़ी कहा, प्रायश्चित। पंडित कठोर, उन्होंने जितना धन तुम्हें दिया, उसके समेत अपने हिस्से की जमीन सब दान दे दो। हम लोग आधी जमीन में गुजर करेंगे।

वह समय बहुत पुराना नहीं है। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में संस्कृत कॉलेज में दक्षिणा लेकर संस्कृत पढने वाले नहीं मिलते थे उसी जमाने में थे शिवकुमा

शास्त्री, जिन्होंने अपने साथियों के द्वेष से खिन्न होकर पद छोड़ दिया। इस काशी मे पडितों की पालकी चलती थी तो हर-हर महादेव के नारों से गलियाँ, सडकें गूँज उठती थीं। आज भी पंडित हैं, विद्वान हैं, पर वह स्वाभिमान कुछ कम हो गया है, लुप्त अब भी नहीं हुआ है इसलिए बौद्धिक तेज भी घटने लगा है। अब लम्बे अरसे तक अंग्रेजी की हुकूमत के दौर में भी स्वाभिमान था, पं. गंगाधर शास्त्री से घर पर मिलने लार्ड कर्जन को जाना पड़ा था। वस्तुतः पंडित या कलावन्त की स्वाभिमानी विपन्नता राजा की सम्पन्नता की पूर्ति है और राजा का विनीत आग्रह भाव पंडित की निस्पृहता की पूर्ति है।

आज संसार बहुत बँटा हुआ है, बात एकता की करता है, ऊपरी मन से, पर एकता का सही अर्थ नहीं जानता। एकता अपने अधूरेपन के ज्ञान में आभासित होती है। आदमी अपने को अधूरा समझता है, तभी पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। किसी दूसरे की प्रेरणा से, किसी दूसरे के इशारे से कोई पूर्णता की ओर नहीं बढता। हमारा पूजापाठ, यज्ञ-उत्सव सब इसी पूर्ति की तलाश में सबमें अपने को समाहित करने के प्रयत्न हैं।

बनारस में मैंने कहा बहुतेरी पूजाएँ करायी जाती हैं, कुछ ठेके पर भी करायी जाती हैं, पर इस बार बनारस आया तो ऐसी पूजा में सम्मिलित होने का सौभाग्य मिला, जिसका प्रवर्तन तो प्राचीन समय में नये सिरे से आद्य शंकराचार्य ने किया और आधुनिक युग में विशेष रूप से उत्तर भारत में अभिनव शंकर श्री करपात्रीजी ने किया। उन्हीं के शिष्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ ने ललिता श्रीविद्या की उपासना का यज्ञ ठाना हुआ है, इसमें ललिता महात्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र का अर्चन हो रहा है और श्रीचक्र पर कुंकुम या अक्षत से ललिता सहस्रनाम के एक-एक नाम चढ़ाये जा रहे हैं, एक लाख बार सहस्रनाम दुहराये जायेंगे और इसमें सहभागी सभी दीक्षित हैं, कोई दक्षिणा पर नहीं है।

किसी कुबेर की सहायता भी नहीं है। साधक शिरोमणि जगदम्बा की प्रसन्नता और निखिल त्रिभुवन की समरसता के लिए यह याग कर रहे हैं। इस पूजा में विश्व की सभी शक्तियों, सभी वृत्तियों, सभी ज्ञानमार्गी, बौद्ध, जैन भी छूटे नहीं हैं। सभी गुरुओं, सभी देवताओं और सभी भुवनों की स्थापना होती है। ऐसी पूजा है जिसमें धर्म के साथ अधर्म को भी आहुति दी जाती है, क्योंकि पूर्ण सच्चाई तो धर्म-अधर्म मिलकर है और पूर्णतर सच्चाई इन दोनों के परे पहुँचकर है। इस पूजा का स्वरूप काशी में पहली बार इस पैमाने पर देखने को मिला। कोई गुह्याचार नहीं है कोई दम्भ नहीं है सब देख सकते हैं। सब प्रसाद पा सकते हैं। अर्चन के लिए श्रीविद्या के किसी न किसी लघु बृहत् रूप की दीक्षा है

दीक्षित व्यक्ति को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि पेड न काटो, स्त्री का निरादर न करो, सभी प्रश्न पूछें तो जो तुम्हें समझ में आये उत्तर दो, स्त्री के विषय में निन्दा की वात न करो, क्योंकि प्रत्येक स्त्री में त्रिपुरसुन्दरी की कोई न कोई कला विराजमान है। प्रत्येक में अभ्युदय की संभावना है। इसमें दीक्षित व्यक्ति को प्रतिदिन 'अहं' और 'माम्' 'मैं' और 'मुझको' के भाव के विसर्जन की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है और समस्त ब्रह्माण्ड की तृप्ति की मनौती माननी होती है। यह भावात्मक ज्ञान का एक प्रकार है। दक्षिण भारत में इसे बहुत गोपनीय रखा गया है, पर वर्तमान समय में इस विद्या का प्रभाव सुदूर अमेरिका तक पहुँच गया है और वहाँ भी श्रीविद्या अनुशीलन केन्द्र खुल रहा है।

काशी अवधूत नगरी है, विभूति साधना, पर विभूति है चिताभस्म। इसी भाव में महाभाव जगता है और चाहे राजनीति और राजनीतिग्रस्त बुद्धिवादी कालिकाप्रसाद शुक्ल जैसे दुर्लभ विद्वान और स्वामी करपात्री जैसे शिखर विचारक की अनदेखी करें पर विश्व उस साधना की महत्ता की ओर शीघ्र अग्रसर होगा, क्योंकि बहुत कुछ चुक गया है, ज्ञान भी, मानुषभाव भी, पृथ्वी का नैसर्गिक सौन्दर्य भी, अब मनुष्य प्रेतत्व की ओर जाता दिखता है, प्रेत को सजीव बनाने वाला ज्ञान अवतीर्ण हुआ चाहता है।

भारतीय मन का अकेलापन

कहना चाहता था हिन्दू मन, क्योंकि मेरे मन में हिन्दू मन अपने आप मे बडा मन है, पर जिस संसार में रहता हूँ, वहाँ हिन्दू उसी तरह एक निन्दनीय अर्थ रखता है जैसे कुछ फारसी लुगतों (कोशों में) रखता है। यह जरूर है फारसी लुगत मे हिन्दू का अर्थ डाकू है, आधुनिक अर्थ में प्रतिक्रियावादी। आज तो हिन्दू डाकू भी है, क्योंकि बाबर के सिपहसालार मीर वाकी की विरासत की ईंट-ईंट पर डाका हिन्दू ने डाला, सब हिन्दू उसके अपराधी हो ही गये और हिन्दू राम की बात करता है तो प्रतिक्रियावादी हो गया। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह राम-रहीम एक सॉस में कहे, अकेले राम न कहे। पर दिक्कत यहाँ आती है कि जिसे आज का आधुनिक न हिन्दू न मुसलमान महज इन्सान जैसे जीव भी प्रामाणिक मानते है, वे महात्मा कबीर जप राम का ही करते हैं, जप रहीम का नहीं करते।

खैर छोड़िए इस प्रतिक्रियावादी पचड़े को। भारतीय मन की बात करें। भारतीय कहने से कुछ ऐसा हो जाता है कि बहुत कुछ उसमें समा जाता है, पर कुछ चीजें, अप्रिय चीजें, असुविधाजनक नाम खारिज हो जाते हैं। कुछ बाद में जुड़े लोग शीर्षक बन जाते हैं, पहले से चले आ रहे नाम पाद-पीठिका बन जाते हैं, नये का आदर तो होना ही चाहिए। भारतीय मन के अकेलेपन की बात के दो सन्दर्भ है। एक तो आर्थिक-राजनीतिक सन्दर्भ है। गुट निरपेक्ष देशों के संगठन का प्रवर्त्तक होते हुए भी भारत अकेला है, अफ्रीका के देशों की मुक्ति की आवाज उठाता रहा, पर वहाँ भी भारतीय मूल का व्यक्ति अलग-थलग है। पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति में इतनी डुबकी लगाकर भी भारत बिल्कुल फुटनोट में कहीं आता है। विश्वमैत्री (विश्वयारी नहीं कहूँगा, हालॉकि वह लोहियाजी का दिया हुआ इस सन्दर्भ का उपयुक्त शब्द है) की बात करने पर भी वह मित्रहीन है। कितने लोगो से वह हाथ मिलाता है पर वह अधिक से अधिक यही महत्व रखता ह उसकी

जनसंख्या चीन के बाद नम्बर दो की है और बहुत-सी अजूबा बातों की अनोखी खान है। इससे ज्यादा उसमें कोई दिलचस्पी किसी भारतीय की नहीं है। यह सही है कि आज की दुनिया में सबको सबसे रिश्ता-नाता बनाना पड़ता है, लेन-देन करना पड़ता है, सबके इतिहास-भूगोल में दिलचस्पी लेनी होती है। यह भी सही है कि विकास के जो पैमाने तय हो चुके हैं और उसे अधिसंख्य पुराने देश भी अपना चुके, उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता, और न रोजमर्रा की जिन्दगी में उन सामानों के उपयोग को रोका जा सकता है जिनके बिना हमारा काम पहले चलता रहा और आगे भी शायद बखूबी चल सकता था।

यह सब सही, पर भारतीय शब्द पहचानहीन हो गया है। अपने पुराने सारे भाई-बन्धु और आज पड़ोसी राष्ट्र भी भारतीय को विश्वास की नजर से नहीं देखते, कोई समझता है भारत अपने आकार का नाजायज फायदा उठा रहा है। कोई समझता है (या शायद हमीं लोग समझते हैं कि वह ऐसा समझता है) कब तक यह बड़े भाई का बोझ झेला जाये। यों तो सब कर्ज लेते हैं और जिनके पास पैसा है और बेचने के लिए कुछ फालतू सामान है (जो उनके काम का नहीं) वे कर्ज देते ही देते हैं, पर हिन्दुस्तान एक ऐसा कर्जदार है जो कर्ज भी लेता है, उसे खर्च भी नहीं कर पाता, उस पर सूद देने के लिए ही नया कर्ज लेता है, बड़ा ही निकम्मा आसामी या खदुका (कर्जदार) हो गया है। पर ये बातें सतही अकेलेपन की हैं और इनसे कुछ विशेष चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

हमारी पूँजी कितनी बड़ी है, इसे तो हम आँक लें। मानव संसाधन हमारे कितने बड़े हैं, अकेली कला सम्पत्ति हमारी (एक-एक संग्रहालय की) विश्व की बडी से बड़ी स्वर्णराशि को तुच्छ बनाने वाली है। प्राकृतिक साधन असीम है, नदियों की ऊर्जा अपार है, सूरज की ऊर्जा जाने कितनी विपुल है। विपन्न असहायता की बात हम क्यों करें? हम सम्पन्नता को नयी परिभाषा क्यों न दे? यह अकेलापन कोई ऐसा दर्दीला नहीं है। सैलानियों का यह स्वर्ग नहीं, विदेशी मेहमानों को यह रास नहीं आता, यहाँ उनको उतनी तृप्ति नहीं मिलती, इसकी चिन्ता क्यों करें? बाली द्वीप सैलानियो से घबराने लगा है। थाईलैंड विदेशी मेहमानों की मेहमाननवाजी में बिछकर जिस संकट से गुजर रहा है, यह वहाँ के समाजशास्त्री जानते हैं। मैं तो दूसरे अकेलेपन की बात करना चाहता हूँ। यह दूसरा अकेलापन आध्यात्मिक अकेलापन है। यह अकेलापन उस राम का अकेलापन है जो प्रजापालक धर्म निभाने के पीछे ऐसे अकेले हुए कि लोककथा के अनुसार सीता के दो बच्चे जनमे। सीता ने अयोध्या में सबको शुभ संवाद भेजा पर नाई को कडी हिदायत दी कि राम को यह संवाद न देना लक्ष्मण के चेहरे की दमक

से राम को कुछ संकेत मिला और राम के आँसू झर पड़े, इतना अभागा हूँ! यह अकेलापन उस दुष्यन्त का अकेलापन है, जो इन्द्र की सहायता करके असुरों पर विजय करता है और उसका ही लड़का अपनी माँ से कहता है—माँ, यह आदमी कोन है, जो मुझे, 'पुत्र, पुत्र' कहे चला जा रहा है। यह अकेलापन श्रीकृष्ण का अकेलापन है, जो युद्ध में शरीक होकर भी युद्धरत नहीं हैं, जो यादवों के गृहयुद्ध से अलग हैं, इतने बड़े परिवार में रहते हुए एकाकी हैं, अपनी लीला के अन्तिम क्षण में एकदम अकेले हैं। साथी उद्धव को विदा कर देते हैं, सारथि दारुक को विदा कर देते हैं, रथ-घोड़े सब लौटा देते हैं, अपने ऐश्वर्य के चिह्न, शंख, चक्र, गदा, पद्म, कौस्तुभ मणि सबको आज्ञा देते हैं, जाओ बैकुंठ धाम लौट जाओ और अकेले पीपल की जड़ों पर माथा टेके प्रतीक्षा करते हैं—जरा आये (पिछले अवतार की निष्कृति लेने बालि आये), अभिमानी यदुकुल का यह शरीर आबिद्ध हो। यह अकेलापन व्यास का अकेलापन है, जो अपने आगे अपने ही रोपे गये पौधे का उन्मूलन देखते हैं और इतना बड़ा ग्रन्थ महाभारत लिखने के बाद अरण्यरुदन करते हैं—मेरी बात कोई नहीं सुनता, बाँहें ऊँची करके आवाज लगा रहा हूँ, मेरी बात कोई नहीं सुनता, कोई नहीं सुनता। आदमी की असली तलब सबके साथ जुड़ने में होती है, सबको अपने मे और सबमें अपने को समोने की होती है। वह तलब ही धर्म है। उसी तलब के कारण वह काम और अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है। उस असली तलब को, उस सोते को, धर्म को क्यों बार-बार भूलता है? व्यास सोचते रहे, उनके बाद आने वाले कवि-साधक सोचते रहे। बुद्ध, महावीर, कालिदास, बाण, भवभूति में भी यह अकेलापन मिलता है। बुद्ध को बोधि के पहले सब साथियों ने छोड़ दिया। महावीर अकेले घूमते रहे बंगाल में, ढेले उन पर बरसाये जाते रहे। कालिदास कभी उजड़ी अयोध्या के ब्याज से, कभी तमकदार शकुन्तला के ब्याज से, कभी अभिशप्त यक्ष के ब्याज से अकेलेपन का राग अलापते रहे।

यह अकेलापन कबीर में है, जो कहते हैं 'हम सबमें, सब हममें, हम फिर बहुरि अकेला।' सबको अपने में समोकर, अपने को उनमें जज्ब करने के बाद भी हमारी नियति है, हम अकेले हैं। इस समोने और जज्ब होने की साखी भरने वाले हम अकेले हैं। यही अकेलापन सूर का है, जिसके 'उर में दूसरे के लिए ठौर' नहीं है, तुलसी का है, जो डंके की चोट पर कहते हैं 'काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोऊ।' मुझे किसी की बेटी से बेटा नहीं ब्याहना, किसी की जाति मे नहीं रहना, मैं जो हूँ, हूँ। आज के ही जमाने में यह अकेलापन महात्मा गाधी के जीवन में पग-पग पर दिखायी पड़ा, विशेष रूप से उनके अन्तिम दिनो की प्रार्थना-सभाओं के इस वक्तव्य में कि लोग कहते हैं मैं पागल हूँ। 'सचमुच मै

पागल हो गया हूँ।' स्व. अज्ञेयजी ने इस वक्तव्य को सुनकर सशस्त्र क्रान्ति का सकल्प छोड़कर गांधीजी की अहिसा को वरण किया। जहाँ से सत्ता की मदहोशी मे समाना हो, वहाँ गांधी पागल होते ही।

यह अकेलापन कुछ-कुछ जब अनुभव करता हूँ तो बावजूद इसके कि किसी समूह के साथ संलग्न नहीं, किसी वर्गीकृत प्रतिबद्धता का अंग नहीं, किसी को स्वीकार्य नहीं, अपने को बहुत अकेला पाता हूँ, पर न अकेलेपन पर गर्व है, न विपन्नता पर। एक आश्वासन है, मेरे आगे विशेषण नहीं, न विश्वहिन्दू का विशषण है, न सेक्यूलर हिन्दू का, न इन्सान का, न हैवान का, न फरिश्ते का। भारत में पैदा हुआ, पला, बड़ा हुआ, यहीं खप जाना है, मुझमें मेरे बावजूद, मेरे दायरों के बावजूद हवा, पानी, आकाश के प्रभाव से आ गया है, भिन गया है। उसके लिए मुझे कोई लज्जा नहीं, ग्लानि नहीं, गर्व नहीं। विनम्र स्वीकृति भाव है। मे अकेला हूँ, यह न दुःख है, न सुख है। इतना कुछ देश में घटित हुआ, मैं इसमे था, नहीं भी था, इसके बाद भी हूँ। मेरी विवशता नहीं है कि मैं अमुक के साथ नहीं या अमुक के विरोध में नहीं हूँ।

यह अकेलापन खाली देसी मन का अकेलापन है, इसका कोई ब्रांड नहीं है। मानना चाहें क्योंकि भारतीयता आदि की सनदें तो आप ही देते हैं, मान लीजिये यही भारतीय मन का अकेलापन है। इस अकेलेपन के कारण ही मैं सोच पाता हूँ कि आदमी कितना भी कुछ खोये, कुछ न कुछ बचा रहता है। यह जो बचा रहता है वही वह है। आदमी क्यों इस स्व की निन्दा करे। आत्मनिन्दा आत्महत्या से कम बडा अपराध नहीं। हम निरन्तर ऐसे अकेलेपन में आत्मचिन्तन कर सकें, यह हमारी शक्ति को पुनः प्राप्त करने की लम्बे अरसे से चली आ रही प्रक्रिया हे। किसी के साथ होने के लिए अपने को विनम्र बनाना तो ठीक है निन्दनीय बनाना ठीक नहीं। यह मन में आता है तो इस निहंग और निरपेक्ष भारतीय मन का अकेलापन कुछ अधिक सार्थक लगता है। विषाद से भी अवसाद से भी मैं बच जाता हूँ।

भारतीयता की खोज

भारतीय होने का क्या अर्थ है, इस पर लोगों ने तब से ज्यादा सोचना शुरू किया जब से राष्ट्रीय नागरिकता और भारतीयता को पर्याय मानने का भ्रम पैदा हुआ, नहीं तो भारतीयता भीतर भिना हुआ भाव है, लबादा नहीं। यह भ्रम यूरोप की औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ विकसित 'नेशन' की अवधारणा का प्रतिक्षेप था। वस्तुतः राष्ट्र और नेशन दो अवधारणाएँ हैं, मूलतः भिन्न हैं। राष्ट्र का अर्थ हे सुशोभित होने का साधन और सुशोभित होने का अर्थ ही है सबके साथ समंजस रहना, एक-दूसरे का पूरक रहना। नेशन शब्द नस्ल से या प्रजाति से जुड़ा हुआ है, उसमें अलग हित, अलग अधिकार की बात निहित है। राष्ट्र भूगोलवाची शब्द भी नही, संस्कृतिवाची जरूर है। संस्कृति का अकेले भूगोल, अकेले इतिहास, अकेले मानव समुदाय से ही सरोकार नहीं होता, वह इन सबसे होता है और मनुष्य के मन मे सदियों-सदियों साथ रहने और एक-दूसरे का सुख-दुःख बँटाने के कारण कुछ सस्कार पड़ते हैं, कुछ स्मृतियाँ तह की तह बैठती जाती हैं, कुछ अभिप्रेरक मूल्य घर करते जाते हैं, संस्कृति इन सबका निथरा हुआ प्रवाहशील रस है। भारतीय सस्कृति जिन मूल्यों से परिचालित होती रही है, उनमें समस्त प्राणियों का कल्याण, सत्य की खोज, सबकी मुक्ति की चाह—ये प्रमुख हैं।

इसी कारण यूनानी, पारसीक, शक, हूण ये सभी इस विशाल संस्कृतिधारा मे घुलते गए। उनकी छाप निश्चित पड़ी, पर उनकी कोई अलग अस्मिता नहीं रह गई। भारत में नस्लों का घुलना-मिलना प्रागैतिहासिक काल में हो गया, इसलिए नस्लों का बोध नहीं रहा, क्षेत्रों का बोध था, क्षेत्रीय विशिष्ट रीतियों का बोध था, पर नस्लों का बोध नहीं था। वर्ण भी रंग नहीं हैं। वह स्थान चुनना है। अंग्रेजों के आने के पहले देश में हिन्दू-मुसलमान के बीच खाई नहीं खुदी थी। लड़ाई बाहरी और भीतरी लोगों के बीच थी। बाबर के खिलाफ राणा साँगा की सेना मे मुसलमान सिपाही लगभग हिन्दू सिपाहियों के बराबर थे। शिवाजी और औरंगजेब के बीच की लडाइयों में दोनों ओर हिन्दू-मुसलमान थे अब्दाली और नादिरशाह

के खिलाफ भी हिन्दू-मुसलमान दोनों एकजुट थे। यह स्थिति 1857 के स्वाधीनता सग्राम तक बराबर बनी रही, उसके बाद जरूर बदलाव हुआ।

हमने तथाकथित पुनर्जागरण की झोंक में भारतीय राष्ट्रीयता की बात शुरू की, पर सही भारतीयता की पहचान हमने नयी परिस्थितियों में आगे नहीं बढ़ायी। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ख्वाजा अहमद गाँव में अवधी में प्रेमकहानी लिखकर सुनाकर गाँव-गाँव का मन मोह रहे थे। सैकड़ों योगी सारंगी पर तमाम ऐसी साझेदारी की कहानियाँ सुना रहे थे, सैकड़ों डफली पर निर्गुण के पद गाँव-गाँव सुना रहे थे। ब्रिटिश प्रशासन भी सराबोर रहे बिना नहीं रहा। मथुरा में कलक्टर रहते हुए ग्राउज ने ब्रजभाषा काव्य गोष्ठी शुरू की, स्वयं भी लिखा, रामचरित मानस का अनुवाद किया, मथुरा संग्रहालय की स्थापना की। फारसी का साहित्य सबसे अधिक मुंशी नवलकिशोर ने उन्नीसवीं सदी में छापा। अन्दरूनी एकता की पहचान खोयी नहीं थी, परन्तु कुछ चक्र ऐसा चला कि हिन्दू मुसलमान दो हैं, दो राष्ट्र हैं, आर्य, द्रविड़, कोल, किरात चार नस्लें हैं, चार संस्कृतियाँ हैं, हिन्दुस्तान भेदों का भवजाल है, ऐसी धारणाएँ पनपने लगीं, और भारतीयता, सही भारतीयता, खोती चली गयी।

जो खो जाता है, उसकी तलाश बहुत होती है। इसलिए तलाश शुरू हुई, यह इंडियन, यह भारतीय क्या है। केवल एक क्षेत्र विशेष का निवासी है, नागरिक है या कुछ और। जहाँ कुछ और परिभाषित करने का प्रश्न उठा, वहीं मन में कई प्रकार के चोर पैठे; अगर रामचरित मानस को भारतीयता का ग्रन्थ कहेंगे तो भारतीयता छोटी हो जायेगी, राम-कृष्ण की कथाओं को भारतीय कहेंगे तो भी कुछ डर है। ऐसे लोगों ने सोचने की जरूरत नहीं समझी कि काटना भारतीयता नही है, समेटना और समेटकर बड़ा होना भारतीयता है। भारतीयता की गंगा में अनेक स्रोतों के जल मिले हैं, उसमें असंख्य-असंख्य लोगों को पोषित करने की क्षमता है। असंख्य-असंख्य लोगों के प्यार से वह नदी आगे बढ़ती रही है। हमारी सम्पदा अकूत है; जो भी इतने लम्बे अर्से में संगृहीत हुआ, विकसित हुआ, एक-दूसरे को प्रभावित करने में समर्थ हुआ, वह सब हमारा है या और ठीक कहें, हम उन सबके है। इसमें वेद, त्रिपिटक, जैनआगम, पुराण, काव्य, दर्शन के अलावा यूनानी, अरबी, ताजिकीय ज्ञान विज्ञान, फारसी काव्य, तिरुक्कुरल, तोल्काप्पियं, गिरिजनों और घुमंतुओं के आख्यान गीत, असंख्य लोककथाएँ, भिन्न-भिन्न भाषाओ मे कविताएँ, अनेक शैलियों के चित्र और स्थापत्य, भारत के साथ जुड़े हुए विचार (विदेशी या स्वदेशी)—सब सम्मिलित हैं। किसी एक को भी काटकर अलग करना उचित नहीं है ये सभी संवादी हैं एक-दूसरे से भिन्न दिखते हुए एक-दूसरे से

जुड़ने और छेड़खानी करने के लिए लाचार हैं। एक-दूसरे के बिना इनका काम नही चल सकता। यह सोचते तो हम एकसूत्रता ढूँढ़ते, भेद को इतनी प्रमुखता नहीं देते, न एकरूपता में सिमटी हुई 'एकता' को।

देश के बँटवारे के बाद, एक अत्यंत दुःखद त्रासदी से गुजरने के बाद भी हमने सीखा नहीं, उधार ली हुई राष्ट्रीयता ढोते रहे। हमारे अपने मज्जागत संस्कारो मे भारतीयता है, जो अभी भी निरक्षर, पर संस्कारी मन में मौजूद है, उसे अनदेखा करते रहे। हम भीरु हो गये हैं, समग्र की बात नहीं कर सकते, हमारे लिए समग्र बहुत-सी चीजों का योग है, समग्र सबसे कुछ अलग है जो सबमें है, पर सबसे अलग है, क्योंकि वह सब होने का भाव है, अलग-अलग दिखने या पहचाने जाने का भाव नहीं—चिश्ती के मजार पर मनौती मानने वालों का मजहब कोई अलग कर सकता है! मजहब के आधार पर क्या उस्ताद अलाउद्दीन खाँ को मैहर की शारदा से अलग किया जा सकता है। एक क्षेत्र के गाँव का आदमी दूर भारत के दूसरे क्षेत्र के गाँव में जाता है, भाषा अलग है, नहीं समझ आती, पर देखता है गाँव तो वैसा ही है, बैलगाड़ी का पहिया वही है, कुम्हार का चाक वही है, हल वही है, घरो की छाजन वैसी ही है, वैसे ही शाम को दरवाजे पर रोशनी करने का रिवाज है। नहाना-धोना, खाना-पीना, बैठना-चलना एक है, वह आत्मीयता ही सब जगह पाता है। उसके मन में इतिहास का कोई द्वन्द्व नहीं। कौन पहले कौन बाद में ऐसा कुछ नहीं। यह तो हम साक्षरों के मन में है, इनका इतिहास अलग, हमारा इतिहास अलग, इनका हमारा संगम जरूर हुआ, पर हमारे बुनियादी अंतर हैं, इन अंतरों को सजीव रखना चाहिए। बेरियर एलविन की सलाह पर आदिवासी अस्मिता का अलगाव सुरक्षित किया गया, जो एक सहज रूप में घुलन-मिलन शुरू हुआ था, उसमें ठहराव आया, कितनी कहानियाँ कहाँ से कहाँ पहुँचीं, इसकी तलाश हमारे लोक ने नहीं की, उसने तो कहानियों को अपनी माना चाहे वह कहानी राम की हो चाहे वह बलि राजा की हो।

भारतीयता की तलाश में बाधक है हमारी कुशिक्षा का कुसंस्कार। यह सही है कि यह कुसंस्कार भी बहुत कुछ अपना हिस्सा बन गया है, इससे अलग कोई नहीं होता। जो लोग राम की ऐतिहासिकता की बात उठाते हैं और इतिहास के स्थूल प्रमाण के बारे में लड़ते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि राम इतिहास नहीं देश के वर्तमान हैं और उसी अर्थ में हसन अली की कुर्बानी भी इतिहास नहीं, वर्तमान है। इतनी संकीर्णता हमारे मनों पर छाती जा रही है उसका सबसे बडा कारण है अपने का सही और दूसरे को कुछ कम सही साथ ही यह भी

खोजकर पायी गयी हर मानवीय सरणि भी उतनी ही सही है, पूरी सही भले न हो ओर पूरे सही तो हम भी नहीं हैं।

मजहब आदमी की जरूरत है, इसमें कोई संदेह नहीं, कहीं न कहीं टिकाव चाहिए पर आदमी टिकाव ही तो नहीं है, वह निरन्तर यात्रा भी तो है, निरन्तर यात्रा के लिए एक मजहबों के मजहब की जरूरत पड़ती है। कुछ प्रथम सिद्धातो की ओर जाना होता है, जिनसे सृष्टि चलती है, जिनसे सृष्टि के आगे चलने का भरोसा रहता है। हमारे यहाँ इसे प्रथम धर्म कहा गया है। अन्य विश्वासों में भी 'फिलोसोफिया पेरेनिम' की बात की गयी, बौद्धों जैनों में 'सनन्तन धम्म' की बात की गयी। यह बात आज स्पष्ट हो तो आदमी अँधराने से बच जाये।

अंधधार्मिकता का प्रयोग होता है पर वस्तुतः उचित शब्द है मतान्धता, क्योंकि धर्म तो विशालतर अर्थ रखता है, वह समस्त सृष्टि का संचालक ओर सभारक है, मत धर्म की अपेक्षा कुछ छोटा है, मत यद्यपि धर्म के साधन के लिए ही हे पर वह साध्य नहीं है। ईश्वर प्राप्ति के लिए कुछ पढ़ना है, कुछ जपना है, कुछ और कर्मकाण्ड करना है, पर ईश्वर को पाने के और उपाय हैं, वे भी अपनी जगह ठीक हैं, क्योंकि ईश्वर पर सबका अधिकार है। जिन्हें ईश्वर में आस्था नही है, उन्हें भी सबकी मुक्ति पाने के लिए प्रयास करना है। अपने क्षुद्र 'स्व' के बाहर जाकर विशाल आत्मीयता की पहचान करनी है, वे भी अपनी जगह सही हैं। ऐसी दृष्टि जब खो जाती है तो वह मतान्ध हो जाता है। आस्तिक मतान्ध भी होते है, नास्तिक मतान्ध भी। छोटे से निजी अहंकार की सुरक्षा के लिए हम मतों का उपयोग घरौंदे के रूप में करते हैं तो हम और छोटे हो जाते हैं, पर मतों का उपयोग यदि हम द्वार के रूप में करते हैं तो हमें सभी द्वार अपने स्थान से ठीक ही लगते हे। दुःख की बात यह है कि यह मतान्धता अनपढ़ लोगों में कम है, कहने के लिए पढे-लिखे पर संस्कार वंचित लोगों में ज्यादा है, उनमें और ज्यादा है जो अपने को बुद्धिवादी कहते हैं, धर्मनिरपेक्ष कहते हैं, जबकि शुद्ध रूप से अपनी हैसियत के सापेक्ष हैं।

साम्प्रदायिकता अलग-अलग सम्प्रदायों के स्वातंत्र्य के अस्वीकार में उपजती है। यदि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की आचार-पद्धति को उतनी दूर तक सम्मान दे, जितनी वह घृणा-द्वेष से प्रेरित नहीं है तो सम्प्रदाय रहें भी, साम्प्रदायिकता नहीं पनपेगी। साम्प्रदायिकता हमारे यहाँ घृणा से कम, भय से अधिक पनपी है। इस भय को दूर करना आज की सबसे बड़ी समस्या है। भारतीयता की खोज की यही सही पहचान होगी कि हम यह भय दूर कर सकें।

वेदों की बात करता हूँ तो वहाँ मिलता है जैसे पृथ्वी और अंतरिक्ष डरते

नहीं, उदास नहीं होते, वैसे ही मेरे प्राण! डरो मत, उदास मत हो :

यथा पृथिवी चान्तरिक्षं च न विभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेरेवा मे प्राण मा रिषः।।

यही शिक्षा बुद्ध ने, महावीर ने, अपनी विकट यात्राओं के द्वारा दी, यही शिक्षा हमारे संतों ने दी, हमारे ही जीवनकाल में महात्मा गांधी ने दी। भारतीयता का यही लक्षण है, मनुष्य प्रकृति से न डरे, प्रकृति हमारी शत्रु नहीं; वन से न डरे, रात से न डरे; ये सभी हमारे सुख-दुःख के साथी हैं, मनुष्य मनुष्य से न डरे, दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति के भीतर सोयी हुई आत्मीयता को पुकारता रहे। बहुत कुछ गलत कहा जा रहा है और उसके विरोध में इसलिए नहीं कोई कुछ कहता कि इससे डरावनी शांति भंग होगी। लगता है हमारे नैतिक साहस को लकवा मार गया है। हमारा बौद्धिक मन निर्द्वन्द्व नहीं है, द्वन्द्व में फँसे मन से भारतीयता की जो खोज होगी वह बहुत सतही होगी और उस खोज से कुछ भी नहीं सधेगा, न धन न धरम।

वास्तविक खोज के लिए मन खुला और निर्भय होना चाहिए और जो कहे उसका फल भुगतने की तैयारी चाहिए। साथ ही निर्भय होकर कहने का अर्थ चोट पहुँचाना नहीं, नश्तर लगाना कभी-कभी जरूरी हो जाता है। भय मिटाने से ही सही और व्यापक पहचान बनती है और बनेगी।

भारत की अस्मिता

अस्मिता की जब बात की जाती है तो *Identity* के रूप में की जाती है, पहचान के रूप में की जाती है। आपकी कैसे पहचान हो कि आप भारतीय हैं। नाक, नक्शे पहचानें तो पहचान अधूरी है। तब कैसे पूरी पहचान हो। एक पहचान होती है आपके पदक्षेप से। कैसे आप चलते हैं। तो आप जितनी जल्दी अपने परिचित मित्रों को चाल से पहचानते हैं, आवाज से पहचानते हैं उतने रूप से नही पहचानते। भटक जाते हैं। शायद देखा हो या न देखा हो। परन्तु आदमी बोलता है तो एकदम स्मृति उद्भूत हो जाती है कि अरे, यह तो वही है जिसे बीस वर्ष पहले देखा था। यह आदमी जा रहा है तो याद आता है कि आगे जो आदमी जा रहा है उसकी चाल पहचानी हुई है। पद-क्षेप पहचाना हुआ है। ये अस्मिताएँ हैं तो स्थूल। सूक्ष्म जाने कितने स्तरों पर होती हैं। यह पहचान है कि हम अपने भारत को देखते कैसे हैं। क्या-क्या रूप भारत के हमारे यहाँ वर्णित हैं। लगता है तना हुआ धनुष है। जैसा उसका आकार होगा, वैसा भारत का आकार है। धनुर्धर प्रत्यंचा चढ़ाये हुए है। एक दूसरा वर्णन होता है कि यह साक्षात् देवी का रूप है। हिमालय मुकुट है और इसकी दो बाँहें समुद्र को थहा रही हैं। जिसकी माला है गगा, करधनी है नर्मदा, जैसे वह नदी है और एक दूसरी पहचान है जो सागर को हिमालय से जोड़ती है। जाने कितने युगों से यह कन्या भारत के अन्तिम छोर पर तपस्या कर रही है शिव के लिए। कितने उत्तर में शिव और कितने दक्षिण मे कन्या तपस्या कर रही है। यही स्मरण मात्र एक विचित्र संयोजन सूत्र बनता है। कन्या कुमारी को कैलाश से जोड़ने वाला सूत्र। हमारे चारों धाम चारों दिशाओं मे एक पहचान बनाते हैं कि ये खूँटे हैं जिसको जोड़ने से भारत का नक्शा बनता है। एक पहचान कालिदास ने दी है रघुवंश में। वह पहचान बड़ी विचित्र पहचान है एक रथ चल रहा है समुद्र के किनारे किनारे रथ चल रहा है तो एक कीचड छँ

रहा है। एक ओर कीचड़ छँटती चली जा रही है और एक ओर उजला छोर है, चक्र का छोर, वह भीतर चला जाता है। एक ओर समुद्र का फेन आता है और उसी तट पर तमाल और ताड़ के वृक्ष पंक्तिवद्ध रूप में खड़े हैं और चक्र आगे बढ़ता चला जा रहा है। जैसे दोनों से जुड़ा, दोनों से अलग।

जैसे यह भारत देश नहीं है, एक गतिशील चक्र है जो समुद्र को भूमि से पृथक करता है। उज्ज्वल धारा फेनिल धारा अलग हो जाती है और तमाल ताल के वृक्षों के माध्यम से श्यामलिमा अलग हो जाती है। एक तो भारत का रूप यह है। यह कुछ अधिक सूक्ष्म है, इसमें हम अपने में एक गतिशील चक्र भी देखते हैं, जो चक्र रुकता नहीं। उसका पहिया कभी विराम नहीं लेता है और आगे बढ़ता चला जाता है। तो एक पहचान भारत की कुछ और सूक्ष्मतर है। और एक उससे भी गहरी पहचान है। कैसा है यह देश और कैसे हैं इस देश के लोग कि देवता तरसते हैं। भारत के आँगन में जिन्होंने जन्म लिया, कौन-सा पुण्य इन्होंने किया कि इनको यह शरीर मिला, जो मुकुन्द की सेवा का साक्षात् साधन बनता है। हम लोगों के भाग्य में यह नहीं कि हम श्रीकृष्ण की सेवा का साधन बनें। यह शरीर से ही साधन बनें, यह हम लोगों के भाग्य में नहीं; यह इनके भाग्य में है। और हम देवता लोग इन्द्रियों के उत्सव में ही फँस जाते हैं और उस भोगवृत्ति के ही कारण हमारे हाथ से छिटक जाता है नारायण के चरण-कमल का स्मरण। क्या हुआ हमारे तप से। सौ वर्ष तप किया, यज्ञ किया, दान दिया, देवयोनि मिली, जबकि देवयोनि पाकर हम भोग में लिप्त हो गये और नारायण के चरणों की स्मृति कहीं खिसक गयी।

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिः तपोव्रतैर्दानादिना वा द्युजयेन फल्गुना
न यत्र नारायणपादपंकजस्मृतिः प्रमुष्टेतिशयेन्द्रियोत्मसवान्

इस श्लोक में पाँचों एक से एक सटीक श्लोक हैं। यह कल्प की आयु लेकर क्या होगा, यदि क्षण भर आयु मिले और स्मरण का जहाँ सुयोग मिले, उनके स्मरण में सारे कर्मों को अर्पित करने का जहाँ सुयोग मिले, वहाँ जन्म नहीं हुआ तो क्या हुआ। तो यह देवताओं के लिए स्पृहणीय लीलाकुंज के रूप में है, ऐसे लीलाकुंज के रूप में जिसमें नित्य उपस्थिति रहती है, नित्य उसमें सहभागी रहते हे। भारत का एक तादात्म्य स्थापित किया गया है। यह बहुत सूक्ष्म भाषा है। लोगों को सहज पहचान होती नहीं। श्रीकृष्ण कौन हैं, अबोध लोगों को पहचान हो जाती है। वृन्दावन में बहुत साल पहले एक बार एक फूल बाबा रहते थे। लम्बी आयु पाकर गये। उस समय उनकी अवस्था 90 वर्ष की थी। बड़ी स्फूर्ति थी उनमें उनका एक प्रण था कि बगीचों से फूल चुरायेंगे उसकी माला बनायेंगे

बडी सुन्दर माला बनाते थे। और बॉके बिहारी को चढ़ाकर आते। मैंने कहा, बाबा फूल तो ऐसे ही मिल जायेंगे, चुराते क्यों हो। तो कहा कि वह सबका, सर्वस्व निजस्व चुराने वाला है तो उसकी पूजा हम चोरी करके ही करेंगे। और रोज फूल की माला ले जाते थे। फकीर आदमी थे। उनके सोने का पता नहीं, कहाँ सो जाते हे—पेड़ के नीचे, बालू मे और कहाँ भोग प्रसाद लगाते, कुछ पता नहीं। परमहस थे, पर अद्भुत मस्ती उनके चेहरे पर रहती थी। एक अनिर्वचनीय आनन्द की आभा में रहते थे। स्वामी अखंडानन्द की कथा सुनते थे बैठकर। चलने लगते थे तो जाने कहाँ से लौंग या इलायची निकालते थे। स्वामीजी कहते थे बाबा, कुछ ओर। बोलते—अधिक के लिए गुंजाइश नहीं। ऐसी फुर्ती थी कोई देख नहीं पाता था। तो श्रीकृष्णजी तो प्रत्यक्ष में आने वाली छवि हैं, जिसे निहारने वाले ऐसे बाबा है। सारे सम्बन्धों को फूँक चुका, सब विसर्जित कर चुका और उसी मस्ती में जुडा हुआ है, वही उसकी उपस्थिति का बोधक है। उसी से पता चलता है कि श्रीकृष्ण यहॉ हैं, जिनको प्रतिदिन नयी माला बाबा चढ़ाता है। उसकी प्रतीति होती थी। स्थूल दृष्टि वालों को यह प्रतीति नहीं होती। मेरे कुछ मित्र थे। मैं उनको वृन्दावन ले गया। मैंने कहा ऐसे ही चलिए। यहाँ रोशनी नहीं आयी, यहाँ टोंटी का जल नहीं आया। यहाँ कुआँ है, भर लीजिए पानी, पी लीजिए। मीठा जल है। यमुना किनारे हैं चारों ओर से घिरा हुआ है। कदम्ब के वृक्ष हैं और बेशुमार मोर हैं और ऊँचे धरातल पर एक राधाकृष्ण का मन्दिर है जिसमें कोई साजबाज नहीं है। जब बडे भोर में मंगल आरती होती है उस समय ध्रुपद होता है। कभी-कभी ध्रुपद के लिए सारे देश के लोग एकत्र हो जाते हैं। वहाँ की सेवा है बालू को साफ रखना। पत्तियाँ गिरी हों—पत्तियों को उठाना। बिल्कुल साफ रखना—यही सेवा है। और जब संगीत होता है तो कैसा भी नास्तिक व्यक्ति हो, एक ओर संगीत सुनेगा, दूसरी ओर संगीत गाने वालों की लीला देखेगा। हर घड़ी लोग आते रहते हैं। कोई आदमी थकता नहीं, कोई आदमी बैठता नहीं। सुनने वाला, देखने वाला भी वैसे ही जड खडा रहता है। और क्या प्रमाण चाहिए कि भगवत् उपस्थिति है। प्राण तत्व की उपस्थिति वहाँ है इसका और क्या प्रमाण चाहिए। जो संगीत से आकार खड़ा हो रहा है, उस लीला के सिवा कोई और उससे अधिक प्रमाण क्या है। तो एक यह भी अमिट पहचान है। कहीं और नहीं यहीं है, विरल है। एक-आध ही हैं लेकिन कहीं भी दूर किसी गाँव में नदी के किनारे, किसी पहाड़ की चोटी पर, कहीं भी ऐसा विरला प्राणी मिल जायेगा जो आत्मकाम है, जिसकी कोई इच्छा नहीं है। लेकिन उसकी एकमात्र इच्छा है कि भगवान की स्मृति बनी रहे. ऐसे लोग इस देश में मिलते हैं इस देश की असली पहचान वही है पहले भी जो ऋषि तपोवन में

रहता था और जो लोग वहाँ से शिक्षा पाते थे वे भारत की पहचान थे। राजा के ऊपर उसका स्थान था। राजा उनसे कर नहीं लेता था और राजा अपने को धन्य मानता था कि इनकी तपस्या का छठा हिस्सा हमें अपने आप मिल रहा है, और वह ऋषि नियंत्रक है। वही निर्धारक है। भारत का विधान बनाने वाले राज्य सस्थान के लोग नहीं थे। राज्य संस्थान ही उन विधानों से बनता था। ऐसा विचित्र देश यह रहा है। राज्य का संचालन कोई करता है। लेकिन उसके नियम कौन बनाते थे? नियम के बनाने वाले हैं बिना किसी स्पृहा के रहने वाले, बिना किसी से आकांक्षा रखने वाले।...भवभूति के वनवासी ने कहा कि हमारे पास कुछ है नही। केवल फलफूल हैं, अच्छी स्निग्ध छाया है, स्वच्छ जल है। लेकिन हम किसी के पराधीन नहीं हैं। हमारे पास सुख यही है कि हम किसी पर अवलंबित नहीं हैं। किसी के दरवाजे भीख नहीं माँगेंगे—हमें भोजन दो। हमारे यहाँ जो आयेगा उसे देना है। किसी से नहीं लेना है। पशु, पक्षी कोई भी आयेगा तो हम उसे देंगे। हम माँगेंगे नहीं। ऐसे निरपेक्ष लोग रहे। वे ही संविधान के विधायक थे। नियमों के विधायक थे। हमारे देश को सुन्दरता भी जिनसे मिली है, उनको हम ताख मे सजाकर रखते हैं। जितनी न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है उतने से इनका काम चलता था...और हमारे देश के इन साधारण आदमियों को मिलता क्या है! विशेष होते हुए भी साधारण बनना, साधारण के रूप में दिखना—यह वृत्त ऊँची वृत्ति है। और शान-शौकत, ठाठ-बाट, इसी से पहचान अगर हो तो पहचान एक बाँझ पहचान है। उसमें कुछ रखा ही नहीं।...पशु परस्पर विरोधी जो माने जाते हैं, आक्रामक माने जाते हैं एक-दूसरे के, वे भी प्रेमपूर्वक रहते हैं। सहज विश्वासपूर्वक रहते हैं। विश्वास उनके अन्दर रहता है। सहज विश्वास ही है एक पहचान। वह पहचान तपोवन में पलती है। दुष्यन्त ने शकुन्तला को नहीं पहचाना, उसको सिर्फ अँगूठी से पहचान होती है। शकुन्तला याद दिलाती है : वह दिन याद है जब एक पेड़ के पास हरिण आया और तुमने पत्ते के दोने में पानी पिलाना चाहा तो उसने पानी नहीं पिया तुम्हारे हाथ से। मैंने जब पानी पिलाया तो पी लिया। तुम्हारे मुँह से निकला कि यह वनवासी है, तुम वनवासी। वनवासी वनवासी पर विश्वास कर रहा है। 'बड़ा अच्छा जाल बुना' दुष्यंत मूढ़ कहकर अपरिचय को दुगुना दुस्सह बना देता है। विश्वास से विश्वास जैसे पैदा होता है, वह जानता नही था। दिलीप आश्रम में आते हैं, पहचानते कैसे हैं? आश्रम में ऋषि कन्याएँ हैं। पानी दे रही हैं क्यारियों में, लबालब भर देती हैं क्यारियों को, हट जाती है, विश्वासाय विहंगानाम्—उनको विश्वास हो जाय कि हमारे साथ छेड़खानी नही करेगा शाम को लौटती हैं चिडिया भरपेट पानी पियेंगी उन्हीं क्यारियों में

आदमी जीता है विश्वास में, अविश्वास में जी नहीं सकता। एक-दूसरे के ऊपर सदेह करके, एक-दूसरे पर अविश्वास करके आदमी नहीं जी सकता। कुछ दिन तक जी लेगा...आखिर तक नहीं जी सकता। उसे साथ जीने के लिए परस्पर विश्वास चाहिए ही चाहिए। वह विश्वास वहाँ सहज रूप में मिलता है। राजा आखेट खेलने आ रहा है आश्रम में। कोई आकर कहता है कि यहाँ शिकार खेलना मना है। यह स्वाधीनता में हस्तक्षेप है। यह तो आश्रमियों के लिए बना है। यहाँ सहज अभयदान है। जहाँ किसी को किसी से भय नहीं है। क्योंकि हर किसी को दूसर के ऊपर विश्वास है। पशु हो, पक्षी हो, मनुष्य हो—सबको एक-दूसरे पर विश्वास है। यह विश्वास एक सूक्ष्मतर पहचान है। माने, विश्वास नहीं रहता तो जाने कितने लोग बाहर से आये, क्या-क्या अत्याचार उन्होंने किये, सबको भूल करके लोग एक-दूसरे के उत्सव में शरीक हुए। 1857 तक ऐसी दशा आ गयी थी कि मुसलमान बादशाहों की छत्रछाया में भारतीय संगीत पड़ा। ऐसी चित्रकला बनी जिसमें श्रीकृष्ण लीला, रामलीला का पूरा वर्णन था और यह भी लगभग पूरे देश मे, केवल ब्रजमण्डल में नहीं। उसी समय ऐसा हुआ कि सबसे अधिक फारसी लिखने वालों में हिन्दू थे। कहाँ से हुआ होगा। अगर विश्वास न होता तो नही हुआ होता। विश्वास के कारण ही ऐसा हुआ। अविश्वास और द्वेष जैसे छूत की तरह से बढ़ते हैं वैसे ही विश्वास और प्रेम ऐसे छूत की तरह से बढ़ते हैं। एक आदमी के विश्वास का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। एक और सूक्ष्म अस्मिता ओर बता दें। मृच्छकटिक नाटक आप लोगों ने पढ़ा होगा। उसमें एक नन्हा-सा बालक आता है रोहसेन। अपने घर की श्री चली गयी है और पड़ोसी का लड़का सम्पन्न हे। वह सोने की गाड़ी लेकर आया है खेलने के लिए, रोहसेन के हाथ में एक मिट्टी की बनी गाड़ी है। "मैं मिट्टी की गाड़ी से नहीं खेलूँगा। पड़ोसी का लड़का सोने की गाडी से खेलता है, मैं मिट्टी की गाड़ी से नहीं खेलूँगा।" दाई ने कहा कि देखो, सम्पत्ति लौटेगी तो बना देंगे। अभी तुम खेलो इससे। इतने में वसन्तसेना का प्रवेश होता है। वह कहती है कि बेटा, लो यह सारा सोना, तुम इससे गाड़ी बनवा दो। तो उसकी ऑखों में आँसू छलक आये कि सम्पन्न परिवार का लड़का है। बच्चे का स्वाभिमान जागता है। कहता है—तुम रो रही हो, मैं तुमसे नहीं लूँगा। इस सोने से मैं गाड़ी नहीं बनवाऊँगा। तो उसकी दाई बोलती है कि यह तुम्हारी माँ होती हे।...है नहीं, होती है। तो तुरन्त बोलता है...यह मेरी माँ है, इतने सोने के दाने जाने कहाँ से आये। मेरी माँ के शरीर में एक भी सोने का गहना नहीं। वसन्तसेना फूट-फूटकर रोने लगती है कि क्या कलेजा हिलाने वाली बात बोल रहा है ओर कितना जीवन का सत्य उखाड़ रहा है। विपन्नता का गर्व विपन्नता का अभिमान कैसे छलक रहा है यह पहचान बहुत स्वाभिमान बडी कीमत पर बनी हुई है

हिन्दुस्तान का सहज स्वभाव लेना नहीं है। उसका सहज स्वभाव है कि किसी का लेना नहीं है देना है। एक आस्था पर टिके रहना है। हमें क्या फिक्र पड़ी है कि हमारे ऊपर कोई ध्यान देने वाला नहीं है। तो यह स्वल्प से परितोष स्वभाव में है और दुःख की ग्लानि नहीं है। उसमें सुख भी है।

एक वेदान्तदेशिक थे, बहुत अच्छे कवि भी थे, आचार्य भी थे। रामानुज सम्प्रदाय के बड़े प्रसिद्ध आचार्य हुए। उन्होंने दरिद्रता को और दरिद्रता से चपी हुई निराशा को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे दुराशा, तुमको मैं नमस्कार कर रहा हूँ। तुमको श्रद्धांजलि दे रहा हूँ जो तुम इधर-उधर लोगों के दरवाजे पर खड़ी रहती हो। दरवाजे के बाहर तुम्हें स्थान मिलता है और मेरे पास अपना धन है। इन्द्रनील के पर्वत के समान कान्तिवाला, अर्जुन के रथ की शोभा बढ़ाने वाला। हमें क्या जरूरत है ऐसे दूरीश्वरों के पास जाने की। तो यह स्वभाव है, बड़े से बड़ा प्रलोभन छोड सकना और किसी विशेष आस्था के बल पर, कि हमें क्या पड़ी है, हमें क्या जरूरत है, हमें नहीं चाहिए। भागवत का एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है। भागवत को आरम्भ करते हैं श्री शुकदेव तो दो श्लोक शुरू में आते हैं। दोनों फक्कड़पन के कालजयी श्लोक हैं। पहला है—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवांघ्रिपाः परभृतः सरितोप्यशुष्न्
रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपसन्नान् कस्मात् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धोन्

रास्ते में चिथड़े तो पड़े होंगे, वृक्ष फूल दे रहे होंगे, फल दे रहे होंगे, नदियाँ सूखी नहीं हैं। गुफाओं के द्वार बन्द नहीं हुए, क्या सोचते हो यह सब न मिले, कभी अजित ने विरले शरणागत को ठुकराया हो क्यों लोगों के पास जाते हो। कम से कम आवश्यकता रखना और दूसरों की आवश्यकता की चिन्ता करना, उन्हीं की आवश्यकताओं की चिन्ता करके अपनी आवश्यकताएँ कम कर लेना—यह संयम वृत्ति भारत के स्वभाव में है। माँ अपना पेट काटती है, बच्चे को भोजन कराती है। कुछ नहीं बचता है, पर उसके चेहरे पर मुस्कान आती है : बच्चा भोजन करके गया है, भूखा नहीं गया है। इन अस्मिताओं के अलावा दूसरी अस्मिता की कल्पना और भी की जा सकती है। हमारा यह स्वभाव, ये देव दुर्लभ स्वभाव हैं। इनके ऐसे स्वभाव हैं जो सम्पन्नता में नहीं होते। जो विकसित देशों में नहीं मिलेंगे। ये जितने ही लोक के सहायक हैं उतने ही लोकोत्तर हैं। लोक से पलायन करने का हमारा स्वभाव नहीं है। लोक में रहने का, रमने का स्वभाव है लेकिन अपने लिये रमने का नहीं, लोक के लिए रमने का स्वभाव है। इस प्रकार भारतीय अस्मिता, भारत की पहचान जिन बिन्दुओं से होती है, जिन प्रतीकों से होती है, जिन विचारों से होती है वे विचार भारत देश तक ही सीमित नहीं हैं। उन विचारों के हिस्सेदार दूसरे लोग भी हैं दूर दिगन्त तक हैं

साथ रहना कब सीखेंगे?

देश में इधर जो कुछ भी घटा है, वह इतना भयानक है कि संसार की कोई भी त्रासदी इसके आगे छोटी हो गयी है। युद्ध में संहार की अमानवीयता भी पीछे छूट गयी है। मध्य युग के जिहाद भी छोटे पड़ गये हैं। यह भयानकता इसलिए और भी दुःखदायी है कि बुद्धिमान लोग चुप रहे हैं या फिर कुछ प्रतिबद्धता के नाम पर मुखर रहे हैं कि क्रान्ति के नाम पर सब कुछ उचित है। बिना यह हुए देश कैसे आगे बढ़ेगा। बुद्ध, महावीर, गांधी का नाम लेने वाले लोग इस कदर निठुर, निछोह हो सकते हैं, कल्पना नहीं की जा सकती है। इतने आत्मदाह, पढ़ाई की ऐसी हत्या, इतने लम्बे दौर का अकारण कर्फ्यू, इतनी घेरबन्दी, इतनी किलेबन्दी (मानो गृहयुद्ध हो गया हो) और इतनी जबानबन्दी ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भी नहीं की होगी। यूरोप के मध्ययुगीन इक्विजिशन (गैर-कैथेलिकों को दी जाने वाली यन्त्रणा) और हिटलर के यहूदी-वध की नृशंसता कम से कम खुलेआम नहीं थी। आज जो नृशंसता का नृत्य हुआ है, वह मंडप में नहीं, वह खुले आकाश में हुआ है। और हम दुबके हुए बैठे हैं कि हम सेक्यूलर हैं, हम समतावादी हैं। इतना ढोंग पल रहा है, सत्ता की हविश ऐसी मूल्यहीनता पाल रही है कि अब रहा नहीं जाता। मैंने कुलपतियों की सभा में प्रश्न उठाया कि जिनके लिए हम हैं, वे यदि आत्मदाह की भयंकर पीड़ादायी स्थिति का वरण करते हैं तो कहीं उसमें हमारा भी अपराध है कि हमारी शिक्षा ने हमने उन्हें इस निराशा की चरम स्थिति में ला दिया है कि वे ऐसी मौत चुन रहे हैं पर किसी ने नहीं सुना मुझे बड़ी तकलीफ हुई कोई बहू

को तैयार किया, जिस परिस्थिति में रखा उसमें वे अपनी मेहनत का फल ही तो भोगते हैं, वे कौन-सी सुविधा अतिरिक्त चाहते हैं, किसकी सुविधा छीनना चाहते ह। यह कैसा अन्धा तर्क है कि विषमता यदि कभी कुछ जातियों ने पैदा की तो उन जातियों में जन्म लेने के अपराधी आज वंचित किये जा रहे हैं। कुछ इसलिए नही कि पिछड़ी कही जाने वाली जातियों का कल्याण हो। यह भावना रहती तो सकल्प कुछ दूसरा होता, उनको अच्छी तरह तैयार करने पर बल होता, उनकी सम्पन्नता (हर तरह की सम्पन्नता) लाने पर बल होता, उन्हें युगों-युगों तक हीनभाव अनुभव करने को विवश नहीं किया जाता। करो सामाजिक आन्दोलन कि सब ऊँची जातियाँ हो जायें, भरो उनमें संस्कार शिक्षा के, कला के, उत्साह के, क्यो उन्हे दयनीय बनाकर रखना चाहते हो। यह कैसी सुरक्षा है। डॉक्टर अम्बेडकर ने भी ऐसी दयनीय सुरक्षा की कल्पना नहीं की होगी। खुली बात है कि उन पिछडी जातियों को मूर्ख बनाया जा रहा है, उसी प्रकार जिस प्रकार मुस्लिम अल्पसंख्यकों की दरिद्रता का, अशिक्षा का, अस्वास्थ्य का निवारण न करके उनकी मजहबी अलग पहचान को बढ़ावा देकर उनका अकल्याण किया जा रहा है, इस स्वार्थ से कि जो जितना दयनीय रहेगा, जितना जाहिल रहेगा, उतना हमारी वोट-राजनीति के लिए सुविधाजनक रहेगा, वह फुसलाया जा सकेगा।

मुझे आज की त्रासदी पर एक कहानी याद आ रही है। महाभारत की कहानी है, बड़ी कच्ची उम्र का बच्चा (लगभग चार साल का) अकाल कालकवलित हो गया है। परिजन श्मशान प्रवाह के लिए ले जाते हैं और शव रखकर रो-पीट रहे हैं। दिन ढल रहा है। इसी बीच उस श्मशान के स्थायी नागरिक गृध और गोमायु (शृगाल) वहाँ पहुँचते हैं। गृध के रात में हाथ-पाँव नहीं चलते, गोमायु रात मे ही कुछ अधिक सक्रिय होता है। गृध वेदान्त की शिक्षा देने लगता है—जो जनमा, वह तो मरेगा ही, व्यर्थ में शोक करते हो, घर जाओ। जितनी देर रहोगे, मोहमाया घेरेगी, घर जाओ, इसके लिए भगवान से प्रार्थना करो। रात आ रही है, बडी भयावनी जगह है। अपने प्राणों की रक्षा करो, जाओ, जल्दी जाओ, जीवन का साथ दो, मृत्यु पर शोक न करो। घर के लोग उठ खड़े होते हैं। इतने में शृगाल (सियार) सोचता है कि गीध बाजी मार ले गया, वह साहित्य की भाषा बोलता है—अरे बड़े निठुर हो, यह सुन्दर सलोना चेहरा कुछ देर और निहार लो, अब कहाँ देखने को मिलेगा, कितना प्यारा मुखड़ा है। कौन जाने कुछ अघटित घटे, जी ही जाय, भगवान से प्रार्थना करो, कुछ देर और बिलमो, कैसे निर्मोही हो इस गीध के कहने से इसे छोड़कर जा रहे हो

मुझे लगता है आज के वेदान्त और साहित्य हमें गीध और

सियार-जैसे ही पढ़ा रहे हैं, क्योंकि यह वेदान्त और यह साहित्य आज की राजनीति का आधार है। बच्चे का शव पड़ा है, बिना प्रवाहित किये पड़ा है, पड़ा रहे। पहले यह वेदान्त तो सुन लें, मोक्ष मिल जायेगा। जो मोक्ष गांधीजी ने दिलाया वह नहीं, मोक्ष अपनी अस्मिता से, अपनी सन्तान की ममता से, अपनी सम्भावना से। गोमायु गुरु से साहित्य सीखेंगे तो हमें नयी दृष्टि मिलेगी कि कैसे लोगों को श्मशान में जीवन की आशा दी जा सकती है। यह गृध-गोमायु संवाद आज भी चल रहा है पर एक गुणात्मक अन्तर है, गृध-गोमायु परकाया प्रवेश विद्या भी इस बीच सीख चुके हैं, कब गीध सियार बन जाता है, और सियार गीध, इसका अता-पता नहीं चलता। उनमें विवाद है या कोई साँठगाँठ है, कुछ समझ में नहीं आता। लगता है अभी कुछ समय तक हमारे स्वतन्त्र देश की शिशु अस्मिता इसी विवाद-संवाद की छाया में जीवन-मृत्यु के बीच झूलती रहेगी।

हम बुद्धिजीवी इतने कायर हो गये हैं कि बस अँधेरे कमरे में शाबर मन्त्र पढते रहेंगे या किसी जजमान का मंगल मनाते रहेंगे। हम निर्विकार हैं, केवल हमें अपनी सम्मानित स्थिति और उस स्थिति के अनुकूल पान-फूल-व्यवस्था से प्रयोजन है। हमें देश और देश के सपनों से क्या लेना-देना।

अगर होता तो हम सही तर्कों का उपयोग करते। एक जगह ऐतिहासिक तर्क देंगे कि इनके पूर्वजों ने सामाजिक अन्याय किया है, अतः इनके वंशजों को अपनी योग्यता के आधार पर नहीं, अपनी संख्या के आधार पर प्रतिष्ठा मिलेगी, मानो अपराध इनका है, वहीं दूसरी जगह कहेंगे कि जिन अत्याचारियों ने मन्दिर तोड़े, जिन्होंने हिन्दुओं पर अत्याचार किया, वे कब के चले गये, अब जो मुसलमान है, उनसे प्रतिशोध की भावना क्यों हो, जो पाकिस्तान गया, जिसने देश विभाजन कराया, उनके मजहबी शरीकों से दुर्भावना क्यों? हमें खुलकर कहना चाहिए कि जो समाज आज है, जिस रूप में है, जिन-जिनसे घटित है, वह सब एक परिवार है। पूरे परिवार को साथ रहना है, जो परिवार से बाहर चला गया है, वह भी हमारा शत्रु नहीं है। परन्तु वह बाहरी हो गया है। जो भीतर है, उसे भीतर वाले की तरह रहना है। कहीं न कहीं सबको सहना है, केवल जो सहता चला आया है, उसे ही नहीं सहना है। और यह राजनीति है कि ऐसे परिवार को बाँटने की कोशिश की जाय, किसी को संरक्षणीय बनाकर किसी को अल्पसंख्यक बनाकर उसे सुरक्षा के नाम पर आक्रामक और असहिष्णु बनाकर यह लाचारी उपस्थित की जाय उसके लिए, जिसने घर में लड़ाई से बचने की कोशिश की है। जिसकी सहिष्णुता का प्रमाण है स्वाधीन भारत का वह रूप जिसमें अल्पसंख्यक समुदाय का व्यक्ति उससे उच्च पद पर जाने का अवसर पा सका है, जिसमें उनकी शिक्षा की अलग व्यवस्था

है, जिसमें उनके धर्मान्तरण का कोई उदाहरण नहीं मिलता और इसी समय इसी जमाने में ऐसे देश हैं, जहाँ हिन्दू मन्दिर नहीं बना सकते, जहाँ हिन्दू खुलेआम पूजा नही कर सकते और जहाँ यह खुलेआम हो रहा है।

प्रगतिशीलता का यह पैमाना कितना झूठा है कि मजहब से ऊपर उठकर सोचने का उपदेश केवल उदार और सहिष्णु हिन्दू को दिया जाय और मजहबी आग्रह में जकड़े हुए लोगों की आलोचना न की जाय क्योंकि वे मुसलमान हैं। कबीर की बात की जाती है पर वह तो जहाँ गलती है, वहाँ साफ कहते हैं हिन्दू तुरुक दुई राह न पाई। दोनों के झूठे आडम्बर की निन्दा करते हैं, पर निन्दा केवल एक के आडम्बर की होगी, दूसरे की नहीं होगी, तो आडम्बरों की प्रतिक्रिया विषम रूप ले लेगी। इसी देश का अंग कश्मीर है, कितने मन्दिर हाल में ही टूटे हैं, कितने प्रगतिशीलों ने निन्दा की है, किस सरकार ने उन कश्मीर के अल्पसंख्यकों की चिन्ता की है जो मतान्धता द्वारा हिंसा के शिकार हुए, उन्हें कितनी क्षतिपूर्ति मिली, भागलपुर के दंगे में मारे गये लोगों के घावों पर मलहम लगाना बहुत उत्तम कार्य है, बड़ी उदारता है, पर इस उदारता से वंचित कश्मीर के हिन्दू ही क्यों हुए? जयपुर में दंगे में जाना बहुत उचित है, आतंक में त्रस्त लोगों को आश्वासन देना बहुत उचित है, पर अयोध्या में विना चेतावनी के गोली से मारे गये लोगो के परिवार भी सान्त्वना के अधिकारी हैं। अयोध्या ने क्या पाप किया है कि सत्ता के सौदागर वहाँ समय से नहीं पहुँचे।

पिछड़ी जाति के हिन्दू से अपने धर्म के अनुष्ठान का अधिकार छीन लिया गया, न्यायपालिका के बावजूद संविधान ने यात्रा का अधिकार दिया है, वह अधिकार छीन लिया गया, यह संविधान का उल्लंघन नहीं है?

सामान्य अधिसंख्य जनता के लिए तीर्थयात्रा अपने को निःस्व करके विराट मे विलीन करने की तैयारी है। ऐसी ही तैयारी ने देश को एक रखा, कोई भी शासक रहा, कोई भी शासन रहा, प्रदेश, भाषा, जाति का भेद भुलाकर बस एक पवित्र होने की संकल्पना की धारा में लोग डुबकी लगाते रहे और देश ऐसी धाराओं का महासागर बना रहा। उस महासागर की गुहार है कि जिस उदार भाव पर यह देश टिका है, उस उदार भाव की प्रतिष्ठा न करना बहुत बड़ी भूल होगी। हिन्दू के भीतर भी वह भाव फिर से उभारना है और उन गैर-हिन्दुओं के भीतर भी जो उदारता को अपना दायित्व नहीं मानते। उन्हें बतलाना है कि आप जायसी, रहीम, रसखान, आलम, शेख फरीद, रज्जब की सन्तान बनें, किसी मलिका या शहंशाह की सन्तान बनने की क्यों कोशिश करते हैं और यह समझें कि आपको इस घर में रहना है, इस घर में अकेले नहीं रहना है। आपस में समझ-बूझकर

एक-दूसरे की विचित्रताओं का आदर करते हुए रहना है और इस देश रूपी घर की जिन विचारधाराओं ने, जिन अभिप्रायों ने, जिन पशु-पक्षियों, वनस्पतियों के प्रतीकों ने इस देश को जोड़कर रखा है, उनके होकर रहो, यह कोयल, यह पपीहा, यह वसन्त, यह पावस, यह रंग, यह झूला, सबके लिए है, किसी एक मजहब के लिए नहीं है। इस आवाहन के लिए बुद्धिवादियों को निर्भीक होकर संकल्प लेना चाहिए।

नकली सेक्यूलरवाद से काम नहीं चलेगा न नकली बराबरीवाद से, सही मायने में सबके सामंजस्य और अपरिहार्य सौहार्द की बात करनी चाहिए। हम क्या माने जायेंगे, इसकी चिन्ता छोड़कर देश की, देशहित की बात करनी चाहिए और जहाँ कहीं कोई सताया जा रहा है या अनुचित रूप से दबाया जा रहा है, उसका पक्ष लेना चाहिए। खूनी क्रान्ति कितनी अर्थहीन होती है, यह बिल्कुल सामने है। फिर भी उसकी बात करना गांधी के देश में कितना खोखला है, यह भी बतलाने की जरूरत है। सत्ता पर अंकुश शस्त्र नहीं लगाते, भीड़ का आक्रोश भी नहीं लगाता, विचारक का शब्द लगाता है बशर्ते कि विचारक शुद्ध हृदय से और निर्भीक होकर अपने में और अपनी समग्र परम्परा में पूरी तरह डूबकर और फिर गुस्से से ऊपर उठकर वह शब्द उचारता है। वह शब्द भी यही है, कल भी यही था और कल भी यही रहेगा, संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

साथ चलना शुरू कर एक-दूसरे से संवाद में प्रवेश करो (जितना भी दुर्भाव पहले क्यों न रहा हो) और अपने शब्द मिलाओ (संवाद को और गहराई में उतारो)।

क्या पूरब क्या पच्छिम

बचपन में बतलाया जाता है, सूरज की ओर मुँह करके खड़े हो जाओ, सामने पूरब, पीछे पच्छिम, बायें उत्तर और दायें दक्षिण दिशा है। यह सीख तो याद है, पर जब सूरज दिखायी नहीं देता तो अँधियारे गलियारों में घूमते-घूमते दिशा भूल जाती है तो कम्पास का इस्तेमाल नाविक लोग करते हैं। पर सच पूछिये तो काम दायें-बायें से ही चलता है, कहाँ आज की जिन्दगी मे सूरज इतना मिलता है। पूरब-पच्छिम उत्तर-दक्खिन बस हमारे दिमाग में कुछ कोठे बन गये हैं, खास तौर से हम पढ़े-लिखे लोगों के दिमाग में कुछ और गम्भीर अर्थ लिये। लोकजीवन मे पूरब का अर्थ कुछ मोहक, कुछ जादुई और कुछ नम, कुछ दर्दीला, कुछ बेगाना होते हुए भी अपना ऐसा कुछ होता है। संस्कृत के एक श्लोक का भाव है, जिस देश से आने वाली बयार सूखे हुए घाव हरे कर देती है, बिसरे दुःख-दर्द उभार देती है, उस देश के आदमी कैसे होते होंगे! पच्छिम इसी प्रकार रूखा-सूखा, काम से काम रखने वाला, प्रखर, निर्मम ऐसा कुछ अर्थ रखता है। दिल्ली वालों के लिए लखनऊ-बनारस-पटना के लोग पूरब के साकिन हैं, पुरबिया हैं, वे ही लोग बंगाली के लिए पछाहीं हैं, पछाहीं अर्थात हृदयहीन और पुरविये यानी जाहिल-जपाट, गँवार, भावुक और अशिक्षित। आदमी बड़ी जल्दी ऐसी सापेक्ष कोटियों को भी निरपेक्ष कोटि बना लेता है और भूल जाता है पूरब-पच्छिम में कहीं कोई विभाजक रेखा है नहीं, है तो वह आदमी स्वयं है या उसका वह स्थान है, जहाँ खड़ा है।

आज शहरी लोग सूरज से खास सरोकार नहीं रखते तो बस दायें-बाये से काम चलाते हैं और कोई कहे पूरब जाइए, फिर उत्तर की ओर मुड़िए तब पहले चौराहे से पच्छिम मुड़िए तो थोड़ी ही देर में हम कहने लगते हैं--बस-बस यह सब बहुत झमेले की बात है, बस दायें-बायें बतलाइए। बायाँ-दायाँ भी झमेले का है, शीशे में आपका बायाँ आपका दायाँ हो जाता है दायाँ बायाँ। तब भी वाम-वाम

दक्षिण-दक्षिण, मध्यवाम, मध्यदक्षिण जैसे पन्थों या राजनीतिक तौर-तरीकों के नाम दे रखे हैं।

यूरोप के लोगों ने बहुत पहले इसी प्रकार ओरियंटल नाम दिया, उन लोगों को जो कुछ बड़े अजीब थे, इस नाम के साथ अवज्ञा थी। बाद में वे लोग भारत जैसे देशों के सम्पर्क में आये, यहाँ के साहित्य, रीति-रिवाज का अध्ययन किया ओर एक पूरी प्राच्य विद्या, ओरियंटालाजी की स्थापित कर दी, पूरब के लोगों का चिनन। हम भी उस संस्कार में दीक्षित होकर ओरियंटलिस्ट (प्राच्यविद्याविद) होने लगे, बजाय इसके कि हम आत्मविद होते। इस चक्कर में हम देसी नहीं रहे, अपने लिए हम परदेसियों का नाम धारण करके गौरवान्वित हो गये। अब यह कील ऐसे गहरे धँसी है कि निकलती नहीं। बात-बात में पश्चिम की अमुक प्रवृत्ति, पूर्व की यह प्रवृत्ति, पश्चिम का इस प्रकार का सोचना, पूर्व का इस प्रकार का सोचना, इन्हीं खानों में हम बात करते हैं। इतना कहने का अभिप्राय यह है कि यह सब सापेक्ष को आत्यन्तिक बनाने का व्यापार मनुष्य का अधूरापन है और इसीलिए थोड़ी कम समझदारी है।

अब समय आ गया है कि हम अपने को किसी स्थान में रखते हुए भी इस दृष्टि से सोचें कोई भी रीतिनीति, व्यवहार, भाषा, कला ये सब कहीं शुरू होते है, कहीं दूर तक चले जाते हैं, परिचित बन जाते हैं, अपने हो जाते हैं, कहते हैं हम बनजारे हैं (हिन्दुस्तान में एक जाति ही बनजारा है, आन्ध्र प्रदेश में उन्हें लम्बाडी कहा जाता है) पर वे बस गये हैं। अब उन्हें हम विदेशी नहीं कह सकते, आयातित भी नहीं कह सकते। हमारे भीतर जो भी रचपच गया है, उसे हम पराया कैसे कहें। अरब ने यूनानी चिकित्सा के कुछ-कुछ सूत्र यूनान के लिये, पर उन्होंने पूरी हिकमत विकसित की, वह क्या पश्चिमी है? उल्टे तथाकथित पश्चिम में जो ऐलोपैथी पद्धति विकसित हुई, वह उसी मूल से निकली होकर भी कोरी पश्चिमी है। और मजे की बात तो अंकों के साथ है। यूरोप में वे ही अरबी कहलाये। पर अक जिसके उपयोग में आ रहे हैं, उसी के हैं, न उन पर हम निर्यात शुल्क ले सकते हैं, न अरब देश।

हाँ यह जरूर है कि पच्छिम, विशेषकर हमारे लिए पहले राजनीतिक-आर्थिक, अब आर्थिक-राजनीतिक उपनिवेश बनाने वाले यूरोप अमेरिका के देश हमारे लिए आधुनिकता के जो पैमाने बन गये हैं, वही हमारे लिए संकट उपस्थित हो गया हे। हम अपनी गिनती ही भूल गये हैं। हम लोग स्वभावतः कानी उँगली से एक की गिनती शुरू करते हैं और अँगूठे तक पहुँचते-पहुँचते पाँच तक आते हैं। हमारी दृष्टि में जो सबसे छोटा है, वह पहला है, वही एक है। अमेरिकी अँगूठे से शुरू

करता है, जापानी-जर्मन ये सब अँगूठे से करते हैं। जापानी अँगूठा दबाकर एक कहता है, जर्मन अँगूठा ऊँचे करके और अमेरिकी दूसरे हाथ से अँगूठे को पकड़ करके। अहंकार को ये सभी छोड़ नहीं पाते। अब कान्वेंटी बच्चे भी वहीं से गिनती शुरू करने लगे हैं सिर्फ आधुनिक कहे जाने के लिए।

हम जब देश की आजादी के लिए लड़ रहे थे तो चूँकि हम यूरोप के उपनिवेश हो गये थे, कुछ अतिरिक्त रूप से स्वदेश और स्वदेश के तौर-तरीकों की बात करते थे और यूरोपीय या पश्चिमी होने में अपमान का अनुभव करते थे। ऐसे लोगों को टोडी बच्चा कहते थे। अब स्वाधीन हो जाने पर, कम से कम राजनीतिक रूप में आधुनिक यानी कि पश्चिम की तरह रहने-सोचने को महत्व देने लगे हैं और लोहिया के शब्द उधार लें, कुछ ज्यादा ही विश्वयारी के मोह में पड़ गये हैं।

तब पश्चिम का समीकरण शोषक से था, कुछ-कुछ वैज्ञानिक से भी। अब पश्चिम का समीकरण प्रबुद्ध, सम्पन्न, विकसित और अग्रगामी से हो गया है।

एक तरह से दोनों अतिरेक परिस्थितियों के कारण गाँठ बनते गये और इन गाँठों के कारण हम वह न रहे जो इन सबके बावजूद हैं। न हमारा सहज स्वीकारी भाव रहा, न हमारी सबको जज्ब करती हुई भी अपनी पहचान रही। हम अपनी ही नजर में किसी गिनती में नहीं रह गये।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हजारों-हजारों गोष्ठियाँ आधुनिकता बनाम परम्परा पर हुई होंगी, आधुनिकता इतनी मथी गयी, इतनी मथी गयी कि बस छाछ-छाछ रह गयी है और परम्परा इतनी विश्लेषित हुई कि बस सूखकर जलौनी भर रह गयी है। अपने देश के स्वभाव को हमने अपनी आँखों से परखा नहीं। ऐसा नहीं कि परखने का साधन हमें दिया न गया हो। पर हमें जो शिक्षा विशेष उद्देश्य से, किरानी बाबू बनाने के उद्देश्य से, सर्जक या विचारक बनाने के उद्देश्य से नहीं दी गयी, वहाँ इंडियन हिस्ट्री, इंडियन लॉजिक (तर्कशास्त्र) इंडियन सिस्टम ऑफ मेडीसिन (भारतीय चिकित्सा पद्धति) जैसे नाम जुड़े मानो ये शिक्षा के बाहर के हों, दयावश इन्हें भी स्थान दे दिया गया हो। हम मुकम्मल मेडीसिन या चिकित्सा की शिक्षा नहीं प्राप्त करते, आधुनिक पद्धति की अर्थात आज की यूरोपीय-अमरीकी पद्धति की नहीं, यूरोप से पूर्व-आयातित पद्धति की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं या पारम्परिक भारतीय पद्धति की। उसमें जरूर मुकम्मल बनाने के नाम पर कुछ आधुनिक की बघार दे दी गयी है। हम इसीलिए शोध करते हैं, भारतीय धातु विद्या पर, भारतीय वास्तु शास्त्र पर, मानो ये बिसरी हुई बातें हैं, हम इनका प्रायोगिक अध्ययन करने की जरूरत महसूस नहीं करते। इस तरह हमने अपने को ही काटकर अलग कोटि बना दिया है, यह हमारा विगत स्व है।

पर सोचने की बात है, क्या यह काटना, यह अलग करना हमारे लिए, हमारे भविष्यत् के लिए शुभ है? ज्ञान या अनुभव को लेने वाला ही नहीं रहेगा तो ज्ञान आकर भी क्या करेगा। हम क्यों भूल जाते हैं कि कोई प्रवाह होगा, वही जुड़ने वाले सोते को अपने में खपा सकेगा। प्रवाह होना ही हम भूल जायेंगे तो जो सोता मिलेगा वह कुछ ही दिनों में रुँधा पानी बनकर सड़ने लगेगा। पानी को नया करने वाली ऊर्जा तो हमने अलग, विश्लेषण की प्रयोगशाला को सौंप दी। हम अपने को ही अजूबा बनाकर मुदित हैं, बाहर का आदमी हमें एग्जाटिक (अद्भुत, अपूर्व) कहता है न। कितने गौरव की बात है?

मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के आत्म सम्मोहन से उबरने की घड़ी आ गयी है। हम जो कुछ भी हो गये हैं उस बिन्दु से हम चलें और जो कुछ भी हम सीखे, सिखायें, बिना किसी दबाव के सीखें, वह दबाव न इसका हो कि हम निर्यातयोग्य बने, न इसका हो कि हम शुद्ध स्वदेशी बनें। दोनों ही कोटियाँ अतिरेकी है, अस्वाभाविक है। समझदार आदमी हमारे यहाँ विपश्चित कहा जाता है। विपश्चित अर्थात जो पीछे नहीं जाता, काल को नहीं ढोता, काल के द्वारा अपने को ढुलवाता है। वह काल पर सवारी करता है। यूरोप के फेंके गये सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और तकनीकी कचरे को नियामत मानना या अपनी हर पुरानी चीज को धरोहर मानना दोनों ही सही रास्ते नहीं हैं। सही रास्ता है विवेक, जो परीक्षण करता रहता है, जॉच करता रहता है, दूसरे के द्वारा की गयी जाँच को स्वीकार नहीं करता है। स्व. बाबू सम्पूर्णानन्दजी कहते थे कि यह सब अजीब वैज्ञानिक अन्धविश्वास है कि बिना जॉचे-परखे हम अपनी परम्परा को उपेक्षणीय मान बैठते हैं। हर पहलू को जॉचें-परखें और तब कहें कि यह अब निष्प्राण है तो उसे छोड़ दें। पर सिर्फ इसलिए कि अमुक-अमुक विदेशी या स्वदेशी विद्वान ने ऐसा फतवा दे दिया है, हम स्वयं परीक्षण किये बिना कह दें कि यह सव कपोलकल्पना है, अवैज्ञानिक है, अनाधुनिक है, यह विशुद्ध जड़ता है। दुर्भाग्य की बात यही है कि हम आज इस वैचारिक जड़ता के शिकार हैं और उससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि आजादी के बाद के सालों में जड़ता बढ़ती गयी है। हमारी ओर गाँव में कहावत है कि गौरैया खंजन की चाल सीखने चली और खंजन की चाल आयी नहीं, अपनी भी चाल भूल गयी।

न कोई पूरब है न पच्छिम है। न इन दोनों में अपने आप कोई गौरव है। गौरव आदमी में है और उसके इस प्रयास में है कि हम पूर्णतर होते रहें। दूसरो से बराबरी की बात, दूसरों से होड़ की बात, दूसरों से आगे निकलने वाले विकास की बात, सब इस शुभ संकल्प में समाहित हैं कि हम अपनी कमियाँ दूर करें, दूसरो

की नजर में जो कमियाँ हैं, वे नहीं, अपनी नजर में जो कमियाँ हैं, उन्हें दूर करें। हममें जो भी सम्भावना है, उसका विकास करें और यह विकास सबके लिए करें। किसी को नीचा दिखाने के लिए नहीं, सबको विश्वस्त करने के लिए करें कि हमारा उद्भव आप सबका उद्भव है। हम उपनिवेशवादी चौखटे से बाहर निकलकर पूर्णतर हो सकेंगे।

इसी से जुड़ी हुई बात अवधारणाओं की है, विचारों की है, विचारों के चोखटों की है, सोचों की है। यूरोप से कोई चीज आयी, केवल इतने से वह तिरस्कार योग्य या स्वीकार योग्य नहीं होती और अपनी जमीन में जो चीज उपजी, वह भी बार-बार परखी जाती है, तभी उपादेय होती है। उदाहरण के लिए दो अवधारणाएँ लें—एक मानवाधिकार की अवधारणा है। बड़ी ऊँची अवधारणा है, पर परम्परा से एक प्रश्न उठता है, मनुष्य का ही अधिकार क्यों, दूसरे प्राणियों का, दूसरे जड़ कहे जाने वाले, पर निश्चय ही किसी न किसी अंश में सजीव पदार्थों के अधिकार की बात क्यों नहीं। तब केवल भारत के संदर्भ में ही नहीं विश्व मात्र के सदर्भ में सम्पूर्ण जीवन के अधिकार की बात उठाने की बात की जानी चाहिए। उसी तरह केवल मनुष्यों का संगठन समाज है यहीं तक दृष्टि रहे, क्यों नहीं दृष्टि, सचेत मनुष्य की सचेत दृष्टि समस्त दृश्य संसार को, जो इन्द्रियगोचर है, जो किसी न किसी रूप में हमारे साथ जुड़ा हुआ है, (परम्परा की भाषा में) लोक है--तक नहीं जाती? लोकसंग्रह, लोकहित, लोकमंगल को सामाजिक न्याय से जोड़कर पूर्णतर क्यों नहीं बनाया जाता। इसी प्रकार बराबरी अच्छी बात है, पर बराबरी मे जो एक विरोध और अनावश्यक तनाव की सम्भावना बनी रहती है, कुछ-कुछ ज्यादा बराबर होने की कोशिश में रहते हैं, क्यों न हम बराबरी को इस रूप में भी देखें, सब बराबर इस माने में हैं कि सब अपने आप में अपूर्ण हैं, दूसरे को साथ लेकर ही पूरे होते हैं, सब एक-दूसरे की चाहत हैं, चाह में बराबरी अधिक सुदर बराबरी है। उदाहरण बढ़ाये जा सकते हैं।

मैं चाहूँगा कि अलग-अलग प्रश्नों पर समग्र दृष्टि से विचार की धारा चले। नकल या चिपकाव से देश आगे नहीं बढ़ेगा। बार-बार हीरे को भी तराशने की जरूरत पड़ती है। आदमी और आदमी के विचार तराशने के लिए और तरशवाने के लिए तैयार हों तो न पूरब बेगाना लुभावना दिखेगा, न पच्छिम डरावना, पर स्पष्ट दिखेगा। तभी सापेक्ष कोटियाँ एक वृत्त के रूप में एक-दूसरे की ओर दौड़ती दिखेंगी और आदमी के भीतर भी ऐसी ही बेचैनी उसे गैरआदमी होने से बचाये रख सकेगी। सुपरमैन होकर भी क्या मिलेगा, जब और सब आदमी नहीं रह जायेंगे।

अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक से हटकर

यह हमारे देश की विडम्बना होगी कि हम कहने को सेक्यूलर और समतावादी हैं, पर अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की रट लगाये रहते हैं। एक दिन बहस में मेरे एक राजनीतिक मित्र ने सटीक बात कही कि जनतंत्र में तो बस मत या वोट के आधार पर ही बहुत और अल्प का निर्णय होता है, दूसरी मेजोरिटी-माइनारिटी (बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक) का क्या स्थान? पर हमारे ऊपर अल्पसंख्यक का भूत बुरी तरह सवार है। हम स्वस्थ मन से सेक्यूलर नहीं हो पाते। हो पाते तो अब तक हम विसंगतियों के शिकार न होते। न इतने हम हीनभाव से ग्रस्त होते कि हम एक मस्जिद के ढाँचे के टूटने पर बिलखकर रोते और अनेक मन्दिर देश-विदेश में टूटने पर हम प्रतिरोध का एक शब्द न निकाल पाते? अपने देश में ही कश्मीर में विगत कुछ वर्षो में कितने मन्दिर टूटे, इसके बारे में किसी ने घोषणा का साहस तो किया होता कि इतने मन्दिर टूटे, इनका पुनर्निर्माण करायेंगे। इंग्लैंड, पाकिस्तान, बांग्लादेश में इस बीच तीन-चार दिनों में मन्दिर तोडे गये, हिन्दू-मन्दिर और जैन-मन्दिर। विदेशी अखबारों ने चटखारे के साथ तस्वीरे छापीं मानो यह दिखाने के लिए कि यह सब हिन्दुस्तान के कारण हुआ। अपने यहाँ छोटे-मोटे कई देवस्थानों पर इसी बीच आक्रमण हुए, उनके पुनर्निर्माण की बात नहीं की गयी। या तो हम किसी के पुनर्निर्माण की बात न करते या करते तो सबकी करते। बेसहारा और गरीब हिन्दू क्या रक्षा का पात्र नहीं है, सिर्फ इसलिए वह बहुसंख्यक होने के नाते आक्राम्य है? क्या सेक्यूलर होने का अर्थ एक तरफ झुकना है?

ये सभी प्रश्न उन्मथित करते हैं और मन के भीतर बड़ी बेचैनी होने लगती है दगे किन तत्वों के द्वारा शुरू किये जाते हैं और कैसे किन-किन बातों की

प्रतिक्रिया में शुरू किये जाते हैं, हमने तमाम आजादी के बाद के सालों में मीमासा नही की। दंगा शुरू करने वाला पेशेवर है, उसे किसी वर्ग का न मानकर केवल अपराधी मानना चाहिए। पर वह नहीं होता। सब अपराध धर्म का मान लिया जाता है। सब पाप इस बैल की पीठ पर लाद दो, गांव से खदेड़ दो, हमारी मुक्ति हो जायेगी। यह भी माना कि धर्म बड़ी बुरी चीज है। तब सेक्यूलर लोग क्यो मन्दिरों में पूजा करते हैं, धर्मगुरुओं के चरण छूते हैं, तांत्रिकों को अपना भाग्यविधाता बनाते हैं? क्यों अल्पसंख्यकों को प्रभावित करने के लिए उर्स मे जाकर सिरोपा लेते हैं? क्यों गिरिजाघर की वन्दना में शरीक होते हैं? जिसकी जो आस्था हो, वह अपने घर के भीतर करे या सार्वजनिक रूप से करे तो अपने को बहुत साधारण बनाकर करे और फिर दूसरी आस्थाओं की साझेदारी का प्रदर्शन न करे। इन सब नाटकों के द्वारा हम सबके साथ हैं, यह न दिखाये। समानता स्थापित करने के हजारों दूसरे उपाय हैं। सबको न्याय दीजिये, गरीब से गरीब को बिना घर-द्वार बेचे अदालत से न्याय मिले, इसकी व्यवस्था कीजिए। चाहे जिस भी समुदाय का हो, उसकी शिक्षा, उसके स्वास्थ्य, उसके आवास के लिए एक-सी चिन्ता कीजिए और उसकी व्यवस्था कीजिए। सबको प्रतीति हो जायेगी कि आपकी दृष्टि में कोई हिन्दू-मुसलमान नहीं है, सब बस केवल हिन्दुस्तानी हैं। न कोई अनुकम्पनीय है, न कोई आदरणीय, न किसी से डरना है, न किसी को डराना है। हमारे राजनीतिक व्यवहार में यह क्यों नहीं आया? आजादी के इतने साल सम्प्रदायवाद की बात करने में और उसके खिलाफ जेहाद छेड़ने में क्यों चले गये? क्यों नहीं सोचा गया कि सम्प्रदायों को स्थान तो हमने संविधान में दिया है, निखालिस भारतीय यहाँ कोई नहीं है, उसे कुछ होना चाहिए, हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई। इसी कारण जो मन से कुछ नहीं हैं, वे गरीब हिन्दू बने हुए हैं, बड़े मरे मन से हिन्दू बने हुए हैं, ऐसे लोगों के भी सम्प्रदाय को उसमें गिनना चाहिए था।

हमारे देश में रक्त के आधार पर भेदभाव नहीं था। जातियाँ थीं, उन जातियों की मान्यता भी सीमित थी, उनके अतिक्रमण के उपाय भी थे, अतिक्रमण का, ईमानदारी से उससे ऊपर उठने का आदर भी था। सम्प्रदाय थे तो उनका राजनीति में कोई स्थान नहीं था। मुसलमान बादशाहों के यहाँ हिन्दू सलाहकार और सिपहसालार थे, हिन्दू राजाओं के यहाँ भी भिन्न मतावलम्वी मंत्री ओर सेनापति थे। अंग्रेजों ने फूट डाली और स्वराज्य मिलने के अन्तिम क्षण तक वे डालते रहे। स्वराज्य मिल जाने पर भी वे बाज नहीं आते इस सत्कर्म से। पर हमे तो विवेक से काम लेना चाहिए हम एक तरह सख्ती से क्यों नहीं निपटते? हम

क्यो दोमुँही नीति अपनाते हैं? हम क्यों हिन्दू रीति-रिवाजों में सेक्यूलर मूल्यों के नाम पर दखल दे सकते हैं और मुस्लिम रीति-रिवाज में दखल नहीं दे सकते? हम हिन्दू कट्टरवाद की निन्दा कर सकते हैं, उसी स्वर में मुस्लिम कट्टरवाद की या ईसाई कट्टरवाद की निन्दा क्यों नहीं करते? उल्टे हम मुस्लिम कट्टरवाद के आगे कॉपने क्यों लगते हैं? इन प्रश्नों पर खुली बहस क्यों नहीं होती? एक की धार्मिक सवेदनशीलता को आप पवित्र मानते हैं, दूसरे की संवेदनशीलता को विकृति। ऐसे सेक्यूलरवाद नहीं प्रतिष्ठापित होगा। मन से भय निकालकर सख्ती से सेक्यूलर बनिए, किसी को मलाल न होगा, न किसी का मिजाज होगा कि वह दूसरे को ऑख दिखाए। आस्था की, पूजा-पद्धति की स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि इनके नाम पर कोई घृणा का अधिकार प्राप्त कर ले। हिन्दुस्तान में धार्मिक जुलूस प्रशासन के सिरदर्द इसीलिए बने हैं कि कहीं हमने एक को आजादी दी कि तुम्हारा जुलूस निकले तो कोई शंख-घड़ीघंटा न बजाए और दूसरा जुलूस निकलेगा तो चौगुना घड़ीघंटा बजायेगा, कान फोड़ेगा ही। अजान के लिए लाउडस्पीकर लगाने की अनुमति होगी तो आरती-जागरण के लिए भी देनी होगी। लोगों को शोरों की लडाई के बीच जीना ही होगा। न घड़ीघंटा बन्द हो, न अजान, पर दोनो अपनी-अपनी सीमा में हों, लाउडस्पीकर से प्रसारित न हों, अपने आप किसी को कोई परेशानी नहीं होगी।

राजनीतिक सोच में यह खोट आयी हुई है, उसे दूर करने का संकल्प लेना होगा। दो पैमानों से काम नहीं चलेगा। हिन्दू सम्प्रदायवाद मुस्लिम सम्प्रदायवाद की स्वीकृति की प्रतिक्रिया है, यह दर्दनाक सचाई है। दोनों वादों को समाप्त कीजिए। इस पर हम क्यों गर्व करें कि हम विश्व के पहले या दूसरे नम्बर के इस्लामी देश है? हम बड़े देश हैं, केवल इससे हमें सन्तोष क्यों नहीं होता? हम कौमी एकता के नाम पर बहुत से तमाशे करते हैं, कभी मध्ययुग के बादशाहों की करतूतों का ऐसा बखान करके कि वह स्वर्णयुग था, कभी अवध की नवाबी के विलास को गगाजमुनी कल्चर के रूप में पेश करके, कभी उस समय के शाही तौर-तरीकों को अपना करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि एक हैं। हम एक आज की स्थिति के द्वारा होंगे, कल की स्थिति के द्वारा तब होंगे जब वह कल लोकमानस में मिलकर हमारे निजी व्यक्तित्व में समाया होगा। शाही जमाने को ढोने से कौमी एकता नहीं सधेगी। हमारे शासकीय ढाँचे में जनतंत्र इसी से प्रभावी नहीं हो पा रहा है। समान नागरिकता अब भी स्वप्न है, सभी जगह सहयोगी का आदर नहीं, फरमाबरदार का आदर है। साम्राज्यवादी तौर-तरीकों का जो स्तरभेद जनतंत्र में चलाया जाता है इसी से को ठेस पहुचती है

विडम्बना की बात यह है कि समतावादी भी उसी प्रकार की जड़ मानसिकता के शिकार हैं। प्रसिद्ध लेखिका इस्मत चुगताई के जनाजे के साथ मुस्लिम समुदाय के प्रगतिशील भी नहीं गये क्योंकि उन्हें दफनाया नहीं जाना था। वे हिन्दू भावना पर चोट पहुँचाने को प्रगतिशीलता और मुस्लिम भावना को छूने तक को गुनाह मानते हैं। ऐसे समुदाय हैं जो एक धर्मगुरु की इच्छा के एकदम गुलाम हैं, इस गुलामी से मुक्ति दिलाने में उनकी भूमिका होनी चाहिए, नहीं होती। इर कट्टरता पर एक तरह रोक हो। सम्प्रदायों पर या संगठनों पर रोक लगाने से केवल काम नही बनता, जहाँ शासन बहुत कड़ा है, वहाँ भी कुछ ही समय तक रोक लग पाती हे। इसके बाद सत्ता चरमराने लगती है। रोक लगनी चाहिए ऐसी अभिव्यक्ति या ऐसे कार्य पर जो अमंगलकारक हों, घृणा के प्रेरक हों या लज्जास्पद हों। वहाँ ऐसे कार्य या अभिव्यक्ति का जिम्मेवार अपने आप गिरफ्त में आ जाता है।

वस्तुतः वातावरण न्याय का बनाने से और समान रूप से सबकी लौकिक समस्याओं की समझ से हल बनता है। तब अपने आप प्रतिबन्धक कार्रवाई अनावश्यक हो जाती है। जब ये समस्याएँ हल नहीं होतीं, तभी गुटों के सरमायेदार पैदा होने लगते हैं, सरमायेदार भी नहीं ठेकेदार पैदा होने लगते हैं। ये ठेकेदार अनुचित साधनों का प्रयोग करके लोगों को फँसाते हैं, पारलौकिक तर्कों से लोक का नियंत्रण करना चाहते है। इसी से हमारे यहाँ पारलौकिक धर्म पर बल रहते हुए भी लौकिक मर्यादा का अलग स्थान है। तमाम शास्त्रों में यह बात स्पष्ट है कि राज्यव्यवस्था और विधिव्यवस्था जो समूह को अनुशासित रखने के लिए है, लौकिक तर्क में चलेंगी, लोकायत व्यवस्था से चलेंगी और व्यक्ति के उन्नयन के लिए, उसके आत्मिक विकास के लिए पारलौकिक उपाय मान्य होंगे, दोनों में कोई अन्तर्विरोध नहीं था, दोनों एक-दूसरे के पूरक माने जाते रहे हैं।

इसी माने में कोई राजा (कुछ हद तक अशोक को छोड़कर) अपना विश्वास प्रजा पर नहीं लादता था, न अपने विश्वास के अनुसार शासनतंत्र चलाता था। शासनतंत्र शुद्ध लौकिक आधारो पर प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर चलता था। एक अलिखित व्यवस्था थी। जिसे पुराणप्रकृति कहा गया है, वह सबको सचालित करती थी। वह व्यवस्था लोक के अनुभव में बनी थी और अनुभव के आधार पर, उदाहरणों के आधार पर थोड़ी-थोड़ी बदलती रहती थी। यदि इस सेक्यूलरवाद को लोकायत के साँचे में ढालें और राज्यव्यवस्था को केवल लोकमगल और लोकन्याय पर आधारित बनायें तो सेक्यूलरवाद हमारे गले के नीचे उतरेगा और वह पक्का आधार बन सकेगा

अभी वह एक बाहरी खोल है, जिसमें हजार-हजार छेद हैं, पूरी तरह वह ढँक भी नहीं पाता पूरे शरीर को। व्यक्ति की गरिमा का आदर करते हुए भी हम उससे माँग कर सकते हैं कि उसे लोक मे सामंजस्य के साथ रहना है तो लोक के नियमों को लोक में जीने के लिए स्वीकार करे, इस पर बहस चलायी जानी चाहिए। तात्कालिक और सस्ते समाधानों से, छोटी और कमजोर सुरक्षाओं से न लोकहित होगा और न लोगों का विश्वास व्यवस्था में होगा।

समग्र शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र भारत में जितने प्रयोग हुए, उतने संभवतः किसी दूसरे क्षेत्र में नहीं, बल्कि स्वाधीनता प्राप्ति के पहले ही प्रयोग शुरू हो गये थे। इतने शिक्षा कमीशन बैठे, इतनी मोटी-मोटी रिपोर्टें छपीं। इतनी बहसें हुईं, इतना विचारमंथन हुआ। नयी शिक्षा नीति आयी, उनकी पुनः समीक्षा हुई, पुनः समीक्षा की जॉच नयी सरकार आते ही शुरू हुई और शायद अब भी जारी है। अब उसके साथ संस्कृतिनीति का भी मसौदा जारी हो चुका है। हर नयी सरकार कुछ क्रांतिकारी उपाय सोचती है। और हरेक नेता शिक्षा की गिरावट की बात करता है। इतनी सजगता और क्रियाशीलता के बावजूद शिक्षा की स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो रहा है, इसके कारण क्या हैं?

इस सबकी मीमांसा करने बैठते हैं तो सबसे पहले बिन्दु सामने उभरता है, शिक्षा के अलग-अलग प्रकोष्ठ बनाने का। अंग्रेजी शासन में शिक्षा प्रांतीय विषय था, हर प्रान्त प्राइमरी से कॉलेज शिक्षा तक की व्यवस्था करने के लिए बहुत हद तक स्वतंत्र था। वर्धा योजना महात्मा गांधीजी की ही बनायी हुई थी। वह बेसिक शिक्षा के नाम से चली। उसमें गांधीजी ने कल्पना की थी, "मैं चाहता हूँ कि हमारे गाँवों में ऐसी प्राथमिक शिक्षा दी जाये जिसमें प्रथम श्रेणी में रुई धुनने वाले, कतवइये और बुनकर बनें, पहले दर्जे के कपास की खेती करने वाले, चरखा बनाने वाले बढ़ई और लुहार बनें। विद्यार्थी सीना-पिरोना जानें, उनकी लिखावट सुन्दर हो, उन्हें देशी अंक जबानी याद हों। वे रामायण, महाभारत तथा अन्य साहित्य जानते हों और उनके आध्यात्मिक और आधुनिक अर्थों के भी जानकार हों, देहाती खेल जानते हों, स्वास्थ्य के नियमों से परिचित हों, घरेलू चिकित्सा उन्हें अच्छी तरह आती हो। गाँव के घूरे, तालाब-पोखर और कुओं आदि की सफाई की कला भी आती हो

इस कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए बेसिक शिक्षा चली, इसके लिए अलग प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम हुए और लिखना-पढ़ना जोड़-बाकी का अभ्यास तो कम हुआ, पर कोई हुनर या कौशल ऐसा नहीं दिया जा सका जो बच्चे को अपने पैरो पर खड़ा कर सके, उसे नौकरी का मुहताज न रहने दे। इसके कारण दो हैं। एक तो यह कि हमारी शिक्षा पुश्त-दर-पुश्त से वाचिक परम्परा से आ रही थी, माँ, बहनें, नाना-नानी, जाने कितनी बातें खेल-खेल में सिखाती रहती थीं। हाथ पकड़-पकड़कर हुनरमंद रस्सी बुनना सिखाते थे, कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाता था, बढ़ई काठ पर चिड़िया उकेरना सिखाता था। शिक्षा के लिए इस प्रकार अलग प्रकोष्ठ नहीं था। बेसिक शिक्षा का उद्देश्य महान था, पर नयी तालीम (जाकिर हुसैन का दिया नाम) हाथ-आँख-दिमाग को एक साथ साधने का संकल्प लेकर भी बस किताबी ही किताबी थी, क्योंकि बरसों की साधना से जिसने जो हुनर सीखा था, उस हुनर को सिखाने में उसकी कोई भूमिका नहीं थी, क्योंकि वह साक्षर नहीं था। कबीर नये भारत में शिक्षक नहीं हो सकते थे, क्योंकि उन्हे अक्षरज्ञान नहीं था। इसलिए साक्षरता के दम्भ ने पूरी-की-पूरी बेसिक शिक्षा को बेजान अनुष्ठान बनाकर रख दिया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्वभारती मे कुछ और प्रयोग और पहले से शुरू किये, जिसमें कला-शिक्षा भी पेड़ों की छाँह मे शान्तिमय वातावरण में देने पर बल था। वह विश्वभारती भी विश्वविद्यालय बनने के मोह में रचनाशीलता से कटती गयी। उसके पीछे दूसरा कारण था, तप पर वहाँ बल नहीं था। तप से मेरा मतलब योग-साधना से या निराहार रहकर जप करने से ही नहीं है, कुछ-कुछ वह भी है, तप से मेरा अभिप्राय कठिन अनुशासन से है। स्वामी श्रद्धानंद ने गुरुकुल-पद्धति को पुनर्जीवित करने की योजना बनायी, वह भी सफल नहीं हुई। उसका कारण यह था कि शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन से जो खुराक मिलनी चाहिए, वह वहाँ नहीं मिलती थी।

इन तीनों प्रयोगों को एक साथ देखें तो एक बात सबमें दिखेगी, वह यह कि ये सभी प्रयोग अधूरे थे। आज जब इस समस्या पर पुनश्चिन्तन शुरू हुआ है तो समग्रता का बिन्दु सबसे पहले उभरकर आता है। उसके बाद आती है बात पाठ्य पुस्तक की जिसके ऊपर जरूरत से ज्यादा बल दिया गया। पाठ्यक्रम का हौवा ऐसा सिर पर सवार हुआ कि गांधीजी की बुनियादी शिक्षा की किताबें अलग से बनायी गयीं, बड़े शिक्षाविदों ने दिमाग खर्च किया और ये किताबें साल-दर-साल जाँची जाती रहीं, बदली जाती रहीं, इनकी कमियाँ साल भर तक भी बरदाश्त नही की जाती रहीं। यहाँ तक कि कमियों और खूबियों की खोज के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान सस्थान भी खडा हो गया यह सस्थान भी पूरा नहीं पडा और

तकनीकी शिक्षा के लिए अलग संस्थान बन गये। इतिहास की जरूरतों से घड़ी की सुइयाँ बदली जाती रहीं। जब साम्यवादी शासन रूस में छाया तो स्कूली शिक्षा मे इसी प्रकार बदलाव आया। लेनिन एक स्कूल देखने गये कि क्या चमत्कार हुआ ह। उन्होंने पूछा क्या पढ़ाया जाता है, उत्तर जो मिला, उससे खीझकर उन्होने पूछा--क्या तालस्ताय, चेखव, दोस्तोयव्स्की पढ़ाये नहीं जाते? उत्तर मिला नही। लनिन एकदम उबल पड़े--तो क्या खाक पढ़ाया जाता है, मैं तो यही सब पढ़कर लेनिन हुआ हूँ। मैं नयी शिक्षा नीति की समीक्षा समिति में जाने क्यों सदस्य बना दिया गया था, वहाँ मैंने यही निवेदन किया, सबसे बड़ा सुधार यही होगा कि बच्चे के बस्ते का वजन तीन किलो चार किलो से घटाकर पाँच सौ ग्राम कर दीजिए, बहुत बड़ा काम होगा।

अब बड़े शहरों में और उन्हीं में क्यों, कस्बों तक में अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों की बाढ़ आ गयी है, ऐसे-ऐसे सपने सरीखे नाम हैं, लगता है इंग्लैंड के जाये किसी उपनिवेश के शोषण से सजे-धजे गाँव (कंट्रीसाइड) में पहुँचाए जाने वाले है। पर वह एक घुटन भरा कमरा होता है और वहाँ पढ़ाई जो होती है, होती ही होगी, सुन्दर परिधान, सुन्दर झोले, टिफिन और लकदक पर बल रहता है, कुछ अधिक ही, और होमवर्क इतना लादा जाता है कि बिचारी माँ टी.वी. भी देख पाने की फुरसत नहीं पाती है। स्कूल जाते समय पीठ पर किताब और लौटने पर मन पर किताब, इस बोझ का दबाव क्या विकास करेगा? डारविन का सिद्धात सही हो तो कल के बच्चे कुबड़े होंगे और फ्रायड के हिसाब से दब्बू होते-होते एकदम हिंस्र हो जायेंगे।

हमारी पारम्परिक शिक्षा में ठीक इसके विपरीत किताबें बहुत कम थीं और जो थीं वे सदियों तक चलती रहती थीं, उनसे जो पढ़ाया जाता था, वह पूरे जीवन मे साथ रहता था। अब स्मृति भी किताबों को सौंप दी गयी है और ज्ञान समूह सचार-माध्यमों को। साक्षर आदमी एकदम निर्द्वन्द्व हो गया है, हाथ भी जो कम से कम हिन्दुस्तानी जीवन के सन्दर्भ में इतने कामों में लगे रहने के कारण, इतने हुनरो मे सधने के कारण खुरदुरे होते हुए भी सुन्दर थे अब सौंप दिये गये हैं टी.वी. पर धारावाहिक रूप में चलने वाले खेल के प्रोग्राम को। वे हाथ भी खुले नहीं रह गये।

इस विकास के माहौल में मैं समग्र शिक्षा का बेसुरा राग अलाप रहा हूँ, क्योंकि मुझे अब भी आशा है। यह विडम्बना ही है कि मैं भी समूह संचार माध्यम का ही प्रयोग कर रहा हूँ, पर लाचारी है, एक गाँव से दूसरे गाँव तक कौन कहे, एक घर से दूसरे घर तक अब आवाज नहीं पहुँचती, बीच में शोर की इतनी दीवारे खडी हो गयी हैं।

मेरी समझ में समग्र शिक्षा का, मुकम्मल शिक्षा का अर्थ केवल यही है कि जीना सीखें और रोते हुए नहीं, केवल हँसते हुए भी नहीं, सहज भाव से अपराजित, अकुंठित भाव से सब कुछ सुख-दुःख व प्रिय-अप्रिय स्वीकार करते हुए जीना सीखें। मुझे एक बार याद है स्वर्गीय भवानी भाई (हिन्दी की वाचिक काव्य-परम्परा के दीपवाहक) रेल सफर में साथ थे। एयर कंडिशनिंग फेल हुई, बस लोग झल्लाये, ट्रेन रोक दी लोगों ने, भवानी भाई मजा लेते रहे, पता चला कि इंजिन भी फेल हो गया, गाड़ी खड़ी हो गयी बिल्कुल वीराने में। यात्री उतर पड़े और कहीं चाय नही, बिस्कुट नहीं, उतरना भी खलने लगा। भवानी भाई ने कहा—भाई चलें जरा झरबेरियाँ दिख रही हैं, बेर तोड़ लें, इसका भी एक मजा है। आज सोचता हूँ यह कठिन से कठिन परिस्थिति में भी मजा ले सकने का मन बनाने में शिक्षा क्यों नही समर्थ है! कहा जा सकता है, यह व्यक्तिगत गुण है। पर मुझे दूसरी कहानी याद आती है। श्रीकृष्ण और सुदामा सान्दीपनि की पाठशाला में पढ़ रहे थे, जंगल मे ईधन की लकड़ी और वहीं से कन्दमूल बटोरने गये, आँधी-पानी में वहीं किसी पेड की डाली पर पत्तों के सौ छेदों वाले छाते के नीचे दोनों मित्र हाथ थाम्हे बैठे रहे और बाद में भी श्रीकृष्ण यह न भूल सके कि एक रात दोस्ती के इस प्रकार के दुर्लभ सुख की भी मिली थी। आज शिक्षा शुरू से ही ऊँच-नीच सिखाती है। हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के पदार्पण के पहले जो भी शिक्षा थी, संस्था के रूप में हो या घर के रूप में, वहाँ शिक्षार्थी-शिक्षार्थी के बीच भेदभाव नहीं था, बाद में कायस्थ पाठशाला, भूमिहार कॉलेज, अहीर कॉलेज, कान्यकुब्ज कॉलेज जैसे मनोहर नाम सुनायी पड़ने लगे और जाति मिटाओ कर्मकांड के दबाव में नाम बदले भी तो बलवन्त राजपूत कॉलेज बलवन्त सिंह कॉलेज हो गया, अहीर कॉलेज, आभीरकृष्ण हो गया। शिक्षा ने स्वतंत्र भारत में नयी जातीय चेतना, और नयी वर्ग-चेतना जगायी। पहले थोड़े से ऐसे संस्थान थे, जो राजाओं-तालुकेदारों के लड़कों के लिए सुरक्षित थे, अब हजारों हो गये। विश्वविद्यालय भी सवर्ण-असवर्ण दोनों प्रकार के हो गये, और ऐसे विश्वविद्यालयों की अलग पहचान बन गयी जो एक विशेष विचारधारा से जुड़े लोगों का एकान्त नीड़ बन सके।

तब भी देश को, शायद देश से बाहर भी उतनी ही मात्रा में चाह है मनुष्य होने की और मनुष्य बने रहने की। वह तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम ऐसी शिक्षा की नयी नींव न डालें जिसमें—

1. वाचिक परम्परा फिर से लौटे और निरक्षर, पर शिक्षित कलाकार, गायक, शिल्पी, किसान, लुहार-बढ़ई हमारे प्रारम्भिक ही नहीं माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा संस्थानों में अंशकालिक अध्यापक हों और सम्मानित रूप में अध्यापक हो।

2. शिक्षा संस्थाओं में परीक्षाएँ इतनी कम कर दी जायें कि शिक्षा के लिए समय मिले और परीक्षा भी किताबी से अधिक न हो तो कम-से-कम उसके बराबर मोखिक हो।

3. शिक्षा मे स्मृति, हस्त कौशल, पर्यवेक्षण ओर स्वतंत्र चिंतन का संतुलन हो, अपने परिवेश के प्रति सक्रिय सजगता ही नहीं, उसके साथ सहभागिता का अभ्यास हो। लड़का स्कूल से निकलने के पहले ही अपने घर अपने समाज से एकदम विलग न हो जाये। उसे शर्म न आने लगे, मैं ऐसे विपन्न परिवार में पेदा हुआ, मेरे पिताजी मजूरी करते हैं, मेरी माँ बर्तन मांजती है।

4. पाठ्यक्रमों का व्यापार कम किया जाये। एक लचीला ढाँचा हो और अध्यापक को छूट हो, उसको स्वीकार करते हुए वह परिवर्तन करता रहे, सामग्री से उतना नहीं, जितना तौर-तरीके में, जिससे सीखना-सिखाना आयास न होकर सहज हो।

5. गाँव शहर का भेद मिटाकर कम से कम उच्च शिक्षा में दोनों प्रकार के जीवन को समझने-समझाने और उसमें हिस्सा बँटाने का अवसर रहे, वह पाठ्यक्रम ही हो।

6. संस्था-बद्धता से मुक्ति दिलाने की बात अव्यावहारिक लगेगी, इसलिए शुरुआत योग्य व्यक्ति को केन्द्र बनाकर उसके पास शिक्षार्थी भेजने से होगी। आज भी संगीत की शिक्षा ऐसे हो रही है। उस व्यक्ति के पास बैठकर सीखने वाले की प्रतिष्ठा हो। इसके साथ सम्मानजनक व्यवस्था की जाये।

7. शिक्षा डिग्री से न नापी जाये, कौशल से नापी जाये और व्यक्ति को कोशल का स्तर पा लेने पर अपने स्वाध्याय और अपने निरंतर अभ्यास से नयी ऊँचाइयों को प्राप्त करने की कानूनी तौर पर मान्यता दी जाये।

8. अंत में शिक्षा को तात्कालिक राजनीतिक अपेक्षाओं से न जोड़कर ऐसे अपरिभाषित, पर सबको साफ दिखने वाले मूल्यों से जोड़ा जाय या उसे जुड़े रहने की छूट दी जाये, जिससे कुछ मीनारें बची रहें, जहाँ से दूर तक आने वाले खतरे दिखते हों, दूर तक विसंगतियों का पूरा नक्शा दिखता हो।

शिक्षा वस्तुतः वह स्वभाव है, जिसे पहचानकर आदमी आदमी के लिए ही नहीं, चर-अचर किसी भी प्रकार के जीवन के लिए अजनबी नहीं रहता, कहीं भी अकेला नहीं रहता, कहीं भी सीमित नहीं रहता। समग्र शिक्षा का समग्र अर्थ यही हे। इसके उपाय ऐसे नहीं जो हमारे पास रहे न हों और उसकी उपलब्धि के प्रमाण भी हमको भूले नहीं हैं। जरूरत है शिक्षा शास्त्र ने जो जाले बुने हैं, उन्हें साफ करके, बिना नया शास्त्र रचे, बिना नये होने का संकल्प लिये, वह होने की जो न नया है, न पुराना, वह 'वह' है।

बेसिक शिक्षा यानी आधार शिक्षा

उत्साहवर्धक समाचार है कि विश्व बैंक ने उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा के लिए 721 करोड़ रुपये का ऋण दिया है। मानव संसाधन मंत्री श्री अर्जुन सिंह की घोषणा के अनुसार उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद, अलीगढ़, बाँदा, इटावा, गोरखपुर, नैनीताल, पौड़ी, सहारनपुर, सीतापुर और वाराणसी जिलों में 5022 प्राथमिक और 1077 उच्च प्राथमिक स्कूल खोले जायेंगे तथा 1000 नये अध्यापकों की नियुक्ति की जायेगी। आपरेशन ब्लैक बोर्ड के नाम से जो योजना चली, उसकी विफलता की बात प्रायः सभी ने मान ली। उस योजना की जानकारी तक अधिसख्य अध्यापकों और कार्यकर्ताओं को नहीं हुई। अब इस ऋण का उपयोग भी समझदारी से नहीं किया गया तो इससे जो स्कूल खुलेंगे, वे सब कागज पर ही रह जायेंगे। इसके विद्यार्थियों की संख्या भी कागजी ही होगी और इसकी उपलब्धि भी कागजी ही होगी। आज कागजीपन और कागज दोनों की बचत कम से कम आधारभूत शिक्षा के हित में आवश्यक है। इस सत्र की शिक्षा की तीन समस्याएँ है। एक तो गरीब लड़के कामकाज के लिए निकल जाते हैं, स्कूल छोड़ देते है। दूसरे शिक्षा ऐसी नहीं होती जो उनको सचमुच अपने परिवेश के योग्य बना सके। तीसरी बात यह है कि शिक्षा में समस्त समाज की हिस्सेदारी नहीं होती। इन तीनो बातों को सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि जो छोटी उम्र में कामकाज करने लगते हैं, वे जहाँ कहीं भी कामकाज करते हों, वहीं उनकी शिक्षा की व्यवस्था की जाये। इसका उत्तरदायित्व काम लेने वाले पर हो। साथ ही जिस भी गाँव मे जो भी हुनरमन्द आदमी है, चाहे वह लुहार हो, बढ़ई हो, दर्जी हो, जुलाहा हो, गोपालन में कुशल हो या किसी कला में भी कुशल हो, उसको साझीदार बनाना आवश्यक है। वह अंशकालिक अध्यापक हो। वह यदि कुछ भी हुनर बच्चो की रुचि के अनुसार सिखायेगा तो वह बच्चों के भीतर आत्मविश्वास भरेगा और उस साझीदार के मन में भी आत्मविश्वास भरेगा कि वह समाज में बड़ी भूमिका अदा कर रहा है' इससे उसका हुनर विकसित होगा' साथ ही हुनर सिखाते समय

आंशिक काम और उससे कुछ कमाई की योजना भी बनायी जा सकती है और शिक्षा में आत्मनिर्भरता का संस्कार डाला जा सकता है। यह भी आवश्यक है कि जब तक बच्चों को अधिक से अधिक हाथ, आँख और दिमाग, तीनों साध करके पढने-लिखने और हिसाब लगाने का अभ्यास नहीं कराया जायेगा और जब तक अपनी समृद्ध वाचिक परम्परा का उपयोग नहीं किया जायेगा तब तक प्रशिक्षण में जान नहीं आयेगी। हमारे पुराने स्कूलों में दर्जा दो तक कागज का बिलकुल इस्तेमाल नहीं होता था। या तो पाटी थी या स्लेट जिसको धोया जा सकता था, माँजा जा सकता था और जिस पर निरन्तर अभ्यास किया और कराया जा सकता था। पढ़ने के साथ-साथ अपनी कलम गढ़ने, अपनी पाटी ठीक तरह से चमकाने, अपनी स्लेट धोने का जो सुख था, उस सुख से आज बच्चे वंचित हो गये है। पाठ्यपुस्तकों में भी जब तक प्रत्येक क्षेत्र के परिवेश के अनुसार सम्पूर्ण देश को ध्यान में रखते हुए अलग-अलग विशिष्टता नहीं होगी, तब तक यह खतरा रहेगा कि बच्चा अपने जाने-पहचाने परिवेश से कटता चला जायेगा। इस शिक्षा के स्तर पर इसीलिए उत्तर प्रदेश में ही नहीं समस्त भारत में नये चिन्तन की उतनी नही जितनी समग्र कार्यक्रम की नयी रूपरेखा तैयार करने की आवश्यकता है।

केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय पाठ्यपुस्तकों की एकरूपता के आन्तरिक प्रशिक्षण तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है। शिक्षा एक अत्यन्त सजीव साझेदारी की प्रक्रिया है। इसमें शिक्षक को तरह-तरह के प्रयोग करके बच्चों को भाषा और वस्तु का ज्ञान कराने की छूट होनी चाहिए। यदि यह छूट नहीं दी जाती है और इस प्रकार की छूट का क्या स्वरूप हो सकता है, इसका उदाहरण प्रशिक्षण कार्यशालाओं में नहीं प्रस्तुत किया जाता है तो यह शिक्षा बेजान ही बनी रहेगी, और यदि बेसिक शिक्षा बेजान बनी रहेगी तो कोई भी शक्ति माध्यमिक शिक्षा या उच्च शिक्षा में प्राण-संचार नहीं कर सकेगी। बेसिक शिक्षा को पूर्ण बनाने के लिए पारम्परिक शिक्षा-पद्धति को लेकर गांधीजी के चिन्तन का मथन होना चाहिए और नये औजारों, नयी कल्पनाओं, नयी अपेक्षाओं को जोडते हुए वाचिक परम्परा की क्षमता का विस्तार किया जाना चाहिए। हम शिक्षा के बारे मे निराश नहीं हैं और इसीलिए इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते है कि बहुत समय तक समग्र शिक्षा की बात की अनदेखी नहीं की जा सकती। एक बात और ध्यान देने की है कि यह कर्ज का रुपया है और इसके खर्च में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। विद्यालय के लिए साफ-सुथरी कच्ची मिट्टी की दीवारो वाली इमारतें उतनी ही उपयोगी होंगी, शायद कुछ अधिक ही उपयोगी होगी, क्योंकि वे गाँव से अलग नहीं दिखेंगी। उसका एक अहाता तो होना ही चाहिए

जिसमें फूल-पौधे लगाने की जगह हो और बच्चों के खेलने की जगह हो। बच्चों के विकास में जितना योगदान आसपास की वस्तुओं की सहज सुन्दरता का है उतना ही योगदान सामाजिक नैतिकता का होता है। उसे बचपन में ही अभ्यास होना चाहिए कि वह समाज में सामान्य बन करके रहे। अतिसामान्य की स्थिति पाकर भी सामान्य के साथ अपना लगाव न छोड़े।

नयी शिक्षा नीति

नयी शिक्षा नीति की कुछ बुनियादी बातों पर बात करने के पूर्व यह समझना जरूरी है कि इसमें नया क्या है? दूसरे इसकी जरूरत क्यों पड़ी? कई महत्वपूर्ण शिक्षा कमीशनों ने इसके पहले समय-समय पर शिक्षा नीति बनायी पर उसमें बदलाव की जरूरत इस कारण महसूस की गयी कि--

1. ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जानकारी का इतनी तेजी से विस्फोट हो रहा है कि उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए नये तरीकों के बारे में सोचना जरूरी हो गया है।

2. इसके साथ ही साथ हिन्दुस्तान में शिक्षा के जो अनुभव हुए उनमें यह अनुभव हुआ है कि गाँव और शहर के बीच, पढ़े-लिखे और अनपढ़ों के बीच दूरी बढती जा रही है। इस गैर-बराबरी को दूर करना जरूरी है।

3. हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग अपने बुजुर्गों से सदियों के अनुभवों से मिली समझदारी, चाहे वह घरेलू धंधों के बारे में हो और चाहे वह अपनी संस्कृति के बारे मे हो या चाहे वह अपने आस-पास की नदी, पहाड़, जंगल, खेत, चिड़िया, जानवर, आदमी-आदमी का रिश्ता--इन सब चीजों के बारे में हो, आदमी पाता था और उससे उसके सोचने का दायरा छोटा नहीं होता था। वह सबके बारे में सोच सकता था। उस समझदारी के पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ने में पिछली शिक्षा नीतियों के नाते जो रुकावटें आयी हैं, उन्हें दूर करना जरूरी है।

4. किसी भी देश में केवल कानून और सरकार के बल पर सामाजिक बदलाव सही दिशा में हो नहीं पाता जब तक पूरे समाज की शिरकत और संकल्प न हो। यह तभी मुमकिन होता है जब समाज अपनी जमीन पहचानता है और विरासत की कीमत खुद आँकता है, उसे अपनी शक्ति का पता रहता है तभी वह अपनी कमजोरियों को भी पहचानता है और उनको दूर करने के उपाय भी सोचता

है इसलिए यह जरूरी है कि अपनी विरासत और मौजूदा हालत दोनों के बारे मे एक सजगता शिक्षा में आये जिससे पूरा आदमी वनने का संकल्प ले सकें।

5. हिन्दुस्तान के आजाद होने पर हिन्दुस्तान की क्या अहमियत है ओर क्या उसकी भूमिका है और उसकी कौन ऐसी भूमिका है जो तमाम इंसानियत के लिए आज महत्व रखती है—इसकी जानकारी जितनी लोगों को होनी चाहिए उतनी हे नहीं। इसीलिए जनतंत्र की भावना, सब मजहबों के प्रति आदरभाव और मजहब से अलग होकर देश और दुनिया के बारे में सोचने का खुलापन, कमजोर वर्ग के लिए, कमजोर वर्ग को ऊँचा उठाने के लिए नैतिक जिम्मेदारी, आजादी का सही मतलब समझना, देश की बुनियादी एकता का ख्याल रखना और छोटे-छोटे दायरो के घेरे से बाहर निकलना ये सभी बातें आज अगर शिक्षा नीति में रखी गयी होती तो जो एक बड़े पैमाने पर शक-शुबहा, फिरकापरस्ती और छोटे-छोटे क्षेत्रों की बात उभड रही हैं वे इतनी न उभड़तीं इसलिए एक ऐसा शिक्षा का पाठ्यक्रम, कामनकोर बनाना जरूरी है जो इन कौमी मूल्यों को अच्छी तरह से छात्रों के दिल मे बैठा सके।

6. इलेक्ट्रॉनिक्स के क्षेत्र में कितना विकास हुआ और तकनीकी में इतने तोर-तरीके ईजाद किये गये कि अगर उनका उपयोग करके वक्त और मेहनत जाया होने से न बचायें तो देश के पिछड़ने का वहुत बड़ा खतरा है। हमारे देश के लोग सारी दुनिया में इने-गिने जेहनमन्द लोगों में हैं। यह उनकी जेहनमन्दी के साथ अन्याय होगा अगर उन्हें ये तकनीकी साधन न मुहय्या कराये जायें। यह जरूरी है कि नयी-नयी जानकारी और नयी-नयी ईजाद की गयी चीजें उनके पास हों और तेज रफ्तार के साथ विकसित देशों के साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर चलें और इसके लिए सारे देश में सोच-समझकर एक नीति बनाना जरूरी है।

7. ऊँची तालीम में सब लोगों को भेजकर और फिर ऊँची तालीम के मुताबिक काम का मौका न रहने पर एक तरह की निराशा छाने लगी है इसलिए यह जरूरी है कि नौकरी को ऊँची डिग्री से अलग किया जाय और माध्यमिक शिक्षा के बाद तरह-तरह के रोजगारपरक तालीम के रास्ते खोले जायें। ऊँची तालीम केवल तालीम के क्षेत्र में जाने वाले लोगों के लिए रखी जाय। यह होगा तो ऊँची तालीम की कीमत बढ़ेगी और उसका स्तर भी ऊँचा उठेगा।

8. पूरी तालीम के ढाँचे को ऐसा बनाने की जरूरत है जैसे एक पिरामिड होता है जिसका तल बहुत ही लम्बा-चौड़ा होता है और ज्यों-ज्यों ऊपर जाते है त्यो-त्यों उसका विस्तार कम होता जाता है और सबसे ऊपर जाने पर वह बिल्कुल एक शिखर भर रह जाता है। इसमें एक जरूरी सामान्य शिक्षा सभी लोगों को मिल

जाने की कल्पना की जाती है और उसके बाद तरह-तरह के पाठ्यक्रम में एक बार और ऊँची तालीम पाने वाले एक ओर छँट करके ऊँचाई की मीनार बनाते हैं। देश के पूरे आवाम को ऐसी तालीम की जरूरत है जो उन्हें जिम्मेवार नागरिक बना सके। उसके बाद उनके तरह-तरह की पसन्द और तरह-तरह की रुझान वाले लोगो के भौतिक विकास के अलग-अलग रास्तों को खोलने की जरूरत है और उसके पश्चात ऐसे लोगों की जरूरत है जो नयी बातें सोचें। पूरी इन्सानियत ओर खासतौर से अपने मुल्क की जरूरतों और मुल्क के साधनों को देखते हुए ये लोग रिसर्च में लगें और उन्हें पूरी सुविधा दी जाय। ये सब एक-दूसरे का ख्याल करते रहे। ऐसा नहीं कि ऊँची तालीम पाने वाला आदमी की जरूरत न समझे और आम आदमी ऊँची तालीम वाले की कद्र न करे।

इन जरूरतों को महसूस करते हुए शिक्षा नीति में बदलाव सोचा गया ओर सारे मुल्क में बहस-मुबाहिसे के बाद एक आम सहमति लेकर राष्ट्रीय शिक्षा नीति का ढाँचा सन् 1986 में तैयार किया गया और इसी को हम राष्ट्रीय शिक्षा नीति कहेगे।

इस शिक्षा नीति की फार्मल तालीम से जो पूरा न हो सके वह नॉन-फार्मल तालीम से पूरा किया जाय। क्योंकि मुल्क बहुत बड़ा है ओर मुल्क के साधनों को देखते हुए कारगर तौर-तरीकों के बारे में सोचना जरूरी है। इसी के तहत खुले विश्वविद्यालय की कल्पना की गयी है। दूर से भी तालीम देने की इसमें आडोविजुअल मीडिया की मदद बहुत कारगर होगी और उसके लिए देश की जरूरतों को पूरा करने के लिए अलग-अलग केन्द्र खोले जायेंगे। इसी के तहत उन लोगों की भी तालीम जारी रखने का प्रोग्राम आता है जो लोग प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम मे लिखना-पढ़ना कुछ सीख गये हैं, पर उस सीख को आगे बढ़ाना ऐसे लोगो के विकास की जरूरत है। इस नजरिये से प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में एकदम नया ढाँचा तैयार किया गया है और उसके लिए एक स्वतंत्र कार्यक्रम बन गया है। शिक्षा मे सदाचार और अध्यात्म को स्थान देने के लिए यह सोचा गया है कि जो भी ऐसे ऊँचे मानव मूल्य हों जो जाति-पाँति, बिरादरी जैसे सँकरेपन से ऊँचे उठकर एक ऐसे आदर्श की स्थापना करते हों जिसमें हर एक इन्सान को, चाहे वह औरत हो या पुरुष हो, उन्हें एक प्रकार का गौरव मिले। एक-दूसरे से भय न हो और एक-दूसरे के लिए अपने को न्यौछावर करने का भाव उनके मन में हो। इसके लिए प्राइमरी और सैकेण्डरी शिक्षा के लिए सोच-समझकर पाठ्य-पुस्तक तैयार करायी जाय जिससे बचपन में ही इन मूल्यों के लिए एक मजबूत जमीन तैयार हो।

रोजगारपरक तालीम के लिए नये-नये रास्ते निकाले जायें और 10 + 2 के

बाद ये रास्ते रुझान, पसन्द और योग्यता के आधार पर सबको सुलभ कराये जाये। ये रोजगारपरक शिक्षा भी दो तरह की हो--1. फार्मल और 2. नॉन-फार्मल। और दोनों प्रकार की शिक्षा में ऐसे लोगों की मदद ली जाय जो हुनरमन्द हों और फार्मल शिक्षा भले न पाये हों, पर उसे सिखाने में उनका मन लगता हो। यह उद्देश्य या मकसद सामने रखा जाय कि तालीम जो भी दी जाय वह इन्सानियत से हटकर ऐसी न हो जाय कि अपनी शक्ति को बढ़ाने का उपाय आदमी सोचे, कमजोर आदमी की चिन्ता न करे, ऐसी-ऐसी तकनीकी ईजाद करे जिसके घेरे मे वह घिरता जाय, साइंस की तालीम को इन्सानियत के तकाजों से दूर कर दे। दूसरी ओर ऐसी न हो कि पुरानी रूढ़ियों में आदमी फँसा रह जाय और अपने विवेक का प्रयोग न करे, दुनिया की सिमटती हुई दूरियों का ख्याल न रखे और ऐसी पुरानी चीजों के मोह में फँसा रह जाय जो सड़-गल गयी हों। इन दोनों छोरों से बचकर पूरी तालीम देने की नीति इसमें अख्तियार की गयी है, जिसमें वैज्ञानिक मनोभाव और अपनी सांस्कृतिक विरासत दोनों का ख्याल रखा गया है। यह बहुत ही बुनियादी चीज नयी शिक्षा नीति में है। इसको लेकर ऊपर से लेकर नीचे तक की तालीम में उचित व्यवस्था की गयी है। इसके लिए टेलीविजन जैसे बहुत ही ताकतवर मीडिया की सेवा लेने का बन्दोबस्त किया गया है।

नयी शिक्षा नीति में खेल-कूद और स्वास्थ्य की सेवाओं के विस्तार पर विशेष बल दिया गया है जिससे कि छात्रों के बौद्धिक और शारीरिक दोनों विकास, जो एक-दूसरे के पूरक हैं, अच्छी तरह हो सकें।

कमजोर वर्ग की शिक्षा के लिए, जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यक, महिला, विकलांग सभी आते हैं, विशेष प्रोग्राम बनाने पर बल दिया गया है ताकि ये सभी एक-दूसरे के साथ अन्य दूसरे लोगों के दर्जे पर जल्द से जल्द पहुँच सकें और संविधान में जो समानता कायम रखने की मंशा रखी गयी है वह पूरी हो सके।

उच्च शिक्षा को शोध और नये ज्ञान के प्रसार में अधिक कारगर भूमिका निभाने की जिम्मेवारी सौंपी जा रही है और समस्त ऊँची शिक्षा के केन्द्रों के आपस में तालमेल बिठाने के नये उपाय सोचे गये हैं। मसलन केन्द्र स्तर पर और राज्य स्तर पर उच्च शिक्षा परिषदें कायम करना, अन्तर्विषयी अनुसंधान के लिए प्रोत्साहन देना, व्यावसायिक उच्च शिक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक ऊँची सस्था (बाडी) बनाना और ज्ञान की बारीकियों में जाने के लिए सेलेबस में और पढ़ाने के तरीकों में नये सिरे से विचार करना तथा भाषा को लिखने और बोलने की काबलियत को बढाने के लिए नये उपाय सोचना'

महात्मा गांधीजी द्वारा तालीम के क्षेत्र में किये गये नये प्रयोगों को आगे बढ़ाने के लिए रूरल यूनिवर्सिटी कायम करने की बात भी सोची गयी है जिससे हिन्दुस्तान के गाँवों की नयी-नयी समस्याओं के समाधान के सरल उपायों को सोचा जा सके और गाँव में रहने वाले लोगों के मन में यह विश्वास जमाया जा सके कि हमारी भी तालीम उतनी ही शख्सियत बनाने में कारगर है जितनी दूसरी तरह की।

उद्योगों के प्रसार, तकनीकी तालीम और तमाम तरह के उद्योगों तथा रोजगारों में कैसे ठीक बन्दोबस्त किया जाय कि आदमी का वक्त जाया न हो और कम समय में कुशल आदमियों से ज्यादा काम लिया जा सके और उनके स्वास्थ्य का भी ख्याल रखा जा सके—इसकी तालीम के भी बुनियादी ढाँचे तैयार किये जायेंगे। यही नहीं इन क्षेत्रों में तरक्की की रफ्तार बहुत तेज है इसलिए नौकरी के दरम्यान रिफ्रेशर कोर्स की भी व्यवस्था की जा रही है। साथ ही कम्प्यूटर सेवा कहाँ-कहाँ जरूरी होगी उसकी भी समुचित व्यवस्था की जा रही है। इस नये ढाँचे मे यह ख्याल रखा जा रहा है कि इन क्षेत्रों में लगे हुए लोग कैसे ज्यादा से ज्यादा अपने काम में माहिर हों, ज्यादा से ज्यादा नये तौर-तरीकों को समझकर उसका इस्तमाल करना जानें और आने वाले जमाने के लिए नया साँचा बनाने की बात सोच सके। इन सब चीजों का ख्याल रखते हुए, शोध सेन्टर बनाये जायेंगे, जहाँ चुनिन्दा लोगों को ट्रेंड किया जायेगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि देश के अनपढ़ और पढ़े-लिखे लोगो के बीच की खाई पाटना जरूरी है और जहाँ एक ओर सभी लोगो को आज की दुनिया की नयी जानकारी देनी है, वहीं पर इसका भी ख्याल रखना है कि लोग अपनी संस्कृति से न कटें, इन्सानियत को न छोड़ें, लोग अजनबीपन और बेगानेपन के शिकार न हों। दूसरे शब्दों में तकनीकी माहौल के जो खतरे पश्चिमी देशो मे दिखायी पड़ रहे हैं और उससे वे भी आगाह हो रहे हैं, उन खतरों से बचने के उपाय सोचे जा रहे हैं, इन उपायों में नीचे लिखी बातों का विशेष ख्याल रखा जाना चाहिए—

(क) देश की मिली-जुली संस्कृति के मूल्यों में विश्वास पैदा करने के लिए रोचक और साथ ही साथ प्रेरक पाठ्यक्रम तैयार करना होगा और बराबर यह ख्याल रखना होगा कि हमारी बहुरंगी सामाजिक रचना के भीतर कुछ ऐसे सूत्र है जो सबमें हैं और उन सूत्रों का खासतौर पर ख्याल रखना होगा। मजहबी अन्धविश्वास, कट्टरता, हिंसा और निठल्लेपन के खिलाफ मोर्चा बनाने वाले मूल्यो को ज्यादा अहमियत दी जाय

(ख) ललित कलाओं (चित्रकारी), संगीत और नाट्य जैसी कलाओं, लोक साहित्य और लोक संस्कृति में जो एक इंसान की सुरुचि और भीतरी खूबसूरती का नक्शा दिखलाई पड़ता है उसका अच्छा संस्कार जगाया जाय। अपने आस-पास के वातावरण के साथ किस तरह ताल-मेल बैठाना चाहिए जिससे कि आस-पास के वातावरण में कोई प्रदूषण (पाल्यूशन) न हो। एक की जिन्दगी दूसरे की जिन्दगी से गुथी हुई है उसमें कहीं सिलसिला ऐसा न टूटे कि सबकी जिन्दगी खतरे में पड जाय। कुदरती साधनों को कहीं इस बुरी तरह न खर्च किया जाय कि वे साधन ही चुक जायें। इन सब बातों की शिक्षा की माकूल व्यवस्था की जा रही है। इन तमाम प्रोग्रामों को कारगर बनाने के लिए तीन और कार्यक्रम बनाये जा रहे हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. तालीम की अपनी तकनीकी विकसित करने के लिए एक अलग योजना बनायी गयी है।

2. प्रोग्राम ठीक तरह से चलाया जा रहा है या नहीं इसकी पैमाइश के लिए एक अलग व्यवस्था बनायी जा रही है। जो अध्यापक अलग-अलग क्षेत्रों में शिक्षा दे रहे हैं उनको नयी-नयी सजगता देने के लिए तथा उन्हें और ज्ञान के लिए प्रेरित करने के लिए व्यवस्था की जा रही है।

3. परीक्षा की प्रणाली में आमूलचूल सुधार ऐसा किया जाना चाहिए कि रटाई पर जोर कम हो और परीक्षा इकट्ठी न हो करके मूल्यांकन का एक सिलसिला हो। परीक्षा में चांस या सब्जेक्टिव मूल्यांकन की बात खत्म हो और इसके लिए तरह-तरह के साँचे प्रयोग रूप में सोचे जा रहे हैं।

ऊपर जो बातें कही गयी हैं उनसे अभी कोई साफ नक्शा बनता नही दिखायी देता है क्योंकि नक्शा अमल में आने के बाद साफ-साफ उभरेगा और नक्शा तो नक्शा होता है। पॉलिसी कैसी भी अच्छी हो यदि अमल में लाने वाले लोग अच्छे न हों और तौर-तरीके ऐसे न हों कि निश्चित वक्त के भीतर प्रोग्राम पूरे हो जायें तो कुछ भी होने का नहीं। जरूरत इस बात की है कि हमारे मुल्क मे इसके लिए अभियान चलाये जायें और यह अभियान नारेबाजी के न हो वरन बड़ी ईमानदारी के साथ हर लेविल पर चलाया जाय।

अन्त में इस पॉलिसी में हालाँकि संस्कृति की बात की गयी है पर न इसमें न पॉलिसी के अमल में लाने वाले दस्तावेज में क्लासिक की तालीम की बात खुलकर की गयी है। किसी भी मुल्क में तालीम का एक बड़ा अहम हिस्सा हे क्लासिक का। क्योंकि इसकी तालीम एक अच्छा इंसान बनाने के लिए ऊँची शख्सियत के कुछ पैमाने देती है और वे तहजीब के सलीके बातचीत और

एक-दूसरे की बात सुनने की शिक्षा देते हैं। ग्रीक और लैटिन को आज भी अहमियत मिली है। हमारे यहाँ भी फारसी, संस्कृत, अरबी और पालि की अहमियत रही। इनकी तालीम के बिना शख्सियत बनाने का सपना सपना ही रहेगा। दूसरी बात यह है कि एक इन्सानी बिरादरी जिन लोगों के जरिये ज्यादा कारगर दिखायी जा सकती है उनका इशारा भी होना चाहिए। मध्ययुग के सन्तों, फकीरों, गुरुओं ने जो अहम भूमिका अदा की, मसलन—सब इंसान एक हैं, सबके भीतर साईं झाँक रहा है, दुखी लोगों की सेवा से ही साईं की सेवा हो जाती है, जो दूसरों की भूख-प्यास को भूख-प्यास समझता है वही दुनिया के मालिक का ख्याल रखता है आदि। उनका जो भी अदबी रूप समूचे हिन्दुस्तान में हमें मिलता है उससे चुन करके सभी भाषा में उनके अच्छे तरजुमे तैयार कराये जायें और तब उनको पाठ्यक्रम बनाना एक बहुत कारगर कदम होगा।

अन्त में यह कहना मुनासिब है कि तालीम कभी पूरी नहीं होती है। इल्म का कोई अन्त नहीं होता, यह जिन्दगी भर चलने वाली चीज है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ने वाली चीज है वह। इसलिए आज के जमाने में इसके सीखने के सिलसिले को आगे बढ़ाने के लिए कौन-कौन से उपाय किये जायें इस पर बराबर सोच होनी चाहिए और इसी से प्रयोग में तब्दीली होती है तो मन को इसके लिए तैयार कर लेना चाहिए।

□□

विद्यानिवास मिश्र

जन्म : 14 जनवरी, 1926, ग्राम पकड़डीहा, जिला गोरखपुर। 1945 में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए.। हिंदी साहित्य सम्मेलन में स्व. राहुलजी की छत्रछाया मे कोश-कार्य, विंध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के सूचना विभागों में सेवा। गोरखपुर विश्वविद्यालय, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय मे संस्कृत और भाषा-विज्ञान का अध्ययन। कैलिफोर्निया और वाशिंगटन विश्वविद्यालय में 1960-61 और 1967-68 में अतिथि प्रोफेसर। निदेशक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी विद्यापीठ, आगरा (1977-86), विजिटिंग प्रोफेसर काशी हिंदू विश्वविद्यालय (1985-86), काशी विद्यापीठ के कुलपति (1986-89), संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति (1989-92), नवभारत टाइम्स के प्रधान संपादक (1992-94)। सदस्य प्रसार भारती बोर्ड, संपादक साहित्य अमृत, न्यासी इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र दिल्ली।

सम्मान-पुरस्कार : पद्मश्री (1988); भारतीय ज्ञानपीठ का मूर्तिदेवी पुरस्कार (1990); विश्वभारती संस्कृत सम्मान, उ.प्र. (1995-96); शंकर सम्मान, बिड़ला फाउंडेशन, दिल्ली (1996); महत्तर सदस्यता सम्मान, साहित्य अकादमी, भारतभारती (1997); हेडगेवार प्रज्ञा पुरस्कार (1994), पद्मभूषण (1999)।

प्रमुख प्रकाशित रचनाएँ : व्यक्ति व्यंजना, तुम चंदन हम पानी मेरे राम का मुकुट भीग रहा है का काव्यार्थ भावपुरुष